

Chapter अठारह

ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः ।

अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; यः—जो; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा; विप्लुष्टः—जलाया गया; न—कभी नहीं; मातुः—माता के; उदरे—गर्भ में; मृतः—मरा हुआ; अनुग्रहात्—कृपा से; भगवतः—भगवान्; कृष्णस्य—कृष्ण की; अद्भुत-कर्मणः—जो अद्भुत कार्य करते हैं।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण अद्भुत कार्य करनेवाले हैं। उनकी कृपा से महाराज परीक्षित द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा अपनी माता के गर्भ में ही प्रहार किये जाने पर भी जलाये नहीं जा सके।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के सारे ऋषि महाराज परीक्षित के अद्भुत शासन के विषय में, विशेष रूप से कलि को दण्डित करने तथा अपने राज्य में उसे कोई भी हानि न पहुँचाने के लिए पूर्ण रूप से अक्षम बनाने के प्रसंगों से आश्चर्यचकित रह गये। सूत गोस्वामी भी महाराज परीक्षित के अद्भुत जन्म तथा मृत्यु का वर्णन करने के लिए कम आतुर न थे और यह श्लोक नैमिषारण्य के ऋषियों की उत्कंठा बढ़ाने के लिए सूत गोस्वामी ने कह सुनाया।

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् ।

न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-कोप—ब्राह्मण के क्रोध से; उत्थितात्—उत्पन्न; यः—जो था; तु—लेकिन; तक्षकात्—तक्षक सर्प द्वारा; प्राण-विप्लवात्—जीवन-क्षय से; न—कभी नहीं; सम्मुमोह—अभिभूत थे; उरु-भयात्—घोर भय; भगवति—भगवान् में; अर्पित—शरणागत; आशयः—चेतना ।

इसके अतिरिक्त, महाराज परीक्षित स्वेच्छा से सदैव भगवान् के शरणागत रहते थे, अतएव वे उड़ने वाले सर्प के भय से, जो उन्हें ब्राह्मण बालक के कोपभाजन बनने के कारण काटनेवाला था, न तो भयभीत थे, न अभिभूत थे ।

तात्पर्य : भगवान् का आत्म-शरणागत भक्त नारायण-परायण कहलाता है। ऐसा व्यक्ति किसी स्थान या व्यक्ति से, यहाँ तक कि मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। उसके लिए परमेश्वर से बढ़कर कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इस तरह वह स्वर्ग या नरक को एक समान ही महत्त्व देता है। वह अच्छी तरह जानता है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों ही भगवान् की सृष्टियाँ हैं और इसी तरह जीवन तथा मृत्यु भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई जीवन की विभिन्न दशाएँ हैं। किन्तु सभी दशाओं में तथा सभी परिस्थितियों में नारायण का स्मरण आवश्यक है। जो नारायण-परायण है, वह इसका निरन्तर अभ्यास करता है। महाराज परीक्षित ऐसे ही शुद्ध भक्त थे। उन्हें एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक ने त्रुटिवश शाप दे दिया था, क्योंकि वह कलि के वशीभूत था, और महाराज परीक्षित ने इस शाप को नारायण द्वारा प्रेषित समझा। वे जानते थे कि जब वे माता के गर्भ में जलाये गये थे, तो नारायण (कृष्ण) ने ही उन्हें बचाया था और यदि उन्हें साँप के काटने से मरना है, तो यह भी भगवान् की कृपा से होगा। भक्त कभी भी भगवान् की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाता; भगवान् द्वारा भेजी गई कोई भी वस्तु भक्त के लिए वरदान होती है। अतएव महाराज परीक्षित ऐसी बातों से न तो भयभीत थे, न ही मोह-ग्रस्त थे। यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है।

उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः ।

वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्सृज्य—छोड़कर; सर्वतः—चारों ओर; सङ्गम्—साथ, संग; विज्ञात—समझते हुए; अजित—जो कभी जीते न जा सके (भगवान्); संस्थितिः—वास्तविक स्थिति; वैयासकेः—व्यास के पुत्र को; जहौ—त्याग दिया; शिष्यः—शिष्य के रूप में; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; स्वम्—अपने; कलेवरम्—भौतिक शरीर को।

तत्पश्चात्, अपने समस्त संगियों को छोड़कर, राजा ने शिष्य-रूप में व्यास के पुत्र (शुकदेव गोस्वामी) की शरण ग्रहण की और इस प्रकार वे भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ सके।

तात्पर्य : यहाँ पर अजित शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण अजित अर्थात् न जीते जा सकनेवाले कहलाते हैं और वे हर प्रकार से अजित हैं। कोई उनकी वास्तविक स्थिति को नहीं जान सकता। वे ज्ञान द्वारा भी अजित हैं। हमने उनके धाम, गोलोक वृन्दावन के विषय में सुना है, लेकिन ऐसे अनेक पंडित हैं, जो इस धाम की कई तरह से व्याख्या करते हैं। किन्तु शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु की कृपा से, जिनकी शरण राजा ने अत्यन्त विनीत शिष्य-रूप में ग्रहण की, मनुष्य भगवान् की वास्तविक स्थिति, उनके सनातन धाम तथा उस धाम की दिव्य साज-सामग्री को समझ सकता है। भगवान् की दिव्य स्थिति को जानते हुए तथा उस दिव्य विधि से, जिससे उस दिव्य धाम तक पहुँचा जा सकता है, राजा अपने चरम गन्तव्य के विषय में आश्चर्य थे और इसे जान लेने के कारण वे प्रत्येक भौतिक वस्तु को, यहाँ तक कि अपने भौतिक शरीर को भी किसी आसक्ति के बिना छोड़ सकते थे। भगवद्गीता में कहा गया है—परं दृष्ट्वा निवर्तते—परम अर्थात् वस्तुओं के श्रेष्ठ गुण को देख लेने पर मनुष्य सारी भौतिक आसक्ति छोड़ सकता है। भगवद्गीता से हम उन भगवान् की शक्ति के गुण को समझते हैं, जो भौतिक शक्ति के गुण से श्रेष्ठ है और शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु की कृपा से भगवान् की इस उच्चतर शक्ति के प्रत्येक पक्ष को जाना जा सकता है, जिससे भगवान् अपने शाश्वत नाम गुण, लीलाओं, साज-सामग्री तथा विविधता को प्रकट करते हैं। भगवान् की इस उच्चतर शक्ति को समझे बिना, कोई कितना ही परम सत्य के वास्तविक स्वभाव के विषय में सैद्धान्तिक चिन्तन क्यों न करे, भौतिक शक्ति को छोड़ नहीं पाता। भगवान् कृष्ण की कृपा से, महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुष की अनुकंपा प्राप्त हुई थी, अतएव वे अजित भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ पाये थे। वैदिक साहित्य से भगवान् को खोज निकालना अत्यन्त कठिन है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त की कृपा से उन्हें समझ पाना अत्यन्त सरल है।

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।

स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उत्तम-श्लोक—भगवान्, जिनका गायन वैदिक स्तोत्रों से किया जाता है; वार्तानाम्—उन पर जीवित रहनेवालों का; जुषताम्—लगे रहनेवालों का; तत्—उसकी; कथा-अमृतम्—उनकी दिव्य कथाएँ; स्यात्—ऐसा होगा; सम्भ्रमः—भ्रान्ति; अन्त—अन्त; काले—समय में; अपि—भी; स्मरताम्—स्मरण करते हुए; तत्—उसका; पद-अम्बुजम्—चरणकमलों को।

ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि जिन्होंने वैदिक स्तोत्रों से स्तुति किये जानेवाले भगवान् की दिव्य कथाओं के लिए ही अपना जीवन अर्पित कर रखा है और जो निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करने में लगे हुए हैं, उन्हें अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में भी किसी प्रकार की भ्रान्ति होने का डर नहीं रहता।

तात्पर्य : जीवन के अन्तिम क्षण में भगवान् की दिव्य प्रकृति को स्मरण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जाती है। जीवन की यह सिद्धि उसे ही मिल पाती है, जिसने शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्तात्मा द्वारा गाये जानेवाले वैदिक स्तोत्रों से या उन्हीं की गुरु-शिष्य परम्परा के किसी व्यक्ति से भगवान् की वास्तविक दिव्य प्रकृति के विषय में जाना है। वैदिक स्तोत्रों को किसी मनोधर्मी से सुनने से कोई लाभ नहीं होता। किन्तु जब उन्हें किसी वास्तविक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से सुना जाता है और सेवा तथा विनयपूर्वक उसे ठीक से समझा जाता है, तब हर बात पारदर्शी रूप से स्पष्ट हो जाती है। इस तरह विनीत शिष्य जीवन के अन्त तक दिव्य स्तर पर रह सकता है। वैज्ञानिक अनुकूलन द्वारा मनुष्य भगवान् को जीवन के अन्त समय तक स्मरण रख सकता है, जब शरीर के जर्जर होने से स्मरण शक्ति ढीली पड़ जाती है। सामान्य व्यक्ति के लिए जीवन के अन्त समय वस्तुओं को यथारूप में स्मरण रख पाना कठिन है, लेकिन भगवान् तथा उनके प्रामाणिक भक्तों या गुरुओं की कृपा से मनुष्य को यह अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है। और महाराज परीक्षित के साथ ऐसा ही हुआ।

तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः ।

यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; कलिः—कलि-रूप; न—नहीं; प्रभवेत्—बढ़ सकता है; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अपि—भी; इह—यहाँ; सर्वतः—सर्वत्र; यावत्—जब तक; ईशः—प्रभु; महान्—महान्; उर्व्याम्—शक्तिशाली; आभिमन्यवः—अभिमन्यु का पुत्र; एक-राट्—अकेला सम्राट्।

जब तक अभिमन्यु का महान्-शक्तिशाली पुत्र संसार का सम्राट बना हुआ है, तब तक कलि के पनपने की कोई गुंजाइश नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, कलि ने इस पृथ्वी में बहुत पहले प्रवेश पा लिया था और वह सारे संसार में अपना प्रभाव फैलाने की ताक में था। किन्तु महाराज परीक्षित की उपस्थिति के कारण वह ऐसा नहीं कर पा रहा था। यही अच्छे प्रशासन का ढंग है। कलि जैसे उपद्रवी तत्त्व सदा ही अपने निन्द्य कृत्यों को फैलाना चाहेंगे, लेकिन सक्षम राज्य का कर्तव्य है कि सभी प्रकार से इन्हें रोके। यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि के लिए कुछ स्थान नियत कर दिये थे, किन्तु उसी के साथ-साथ उन्होंने प्रजा को इसका अवसर नहीं दिया कि वे कलि के प्रभाव में बह जाँय।

यस्मिन्नहनि यर्ह्वेव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।

तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; अहनि—दिन में; यर्हि एव—जिस क्षण में; भगवान्—भगवान् ने; उत्ससर्ज—त्याग दिया; गाम्—पृथ्वी को; तदा—उस समय; एव—निश्चय ही; इह—इस संसार में; अनुवृत्तः—पीछे आ गया; असौ—वह; अधर्म—अधर्म; प्रभवः—तीव्र करते हुए; कलिः—कलि-रूप।

जिस दिन तथा जिस क्षण भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी को छोड़ा, उसी समय, समस्त अधार्मिक कृत्यों को बढ़ावा देनेवाला कलि इस संसार में आ गया।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके नाम, यश, गुण सभी अभिन्न हैं। भगवान् की उपस्थिति के कारण कलि पृथ्वी की सीमा में प्रवेश नहीं कर पा रहा था। इसी प्रकार यदि भगवान् के पवित्र नाम, गुणों आदि के सतत कीर्तन का प्रबन्ध हो, तो कलि के प्रवेश के लिए जरा भी अवसर नहीं मिल पायेगा। संसार से कलि को भगाने की यही युक्ति है। आधुनिक मानव-समाज में भौतिक विज्ञान के कारण बड़े-बड़े विकास हुए हैं, और लोगों ने वायु में ध्वनि का विस्तार करने के लिए रेडियो की खोज कर ली है। अतएव इन्द्रिय भोग के लिए किसी भेदे स्वर को प्रसारित न करके, यदि राज्य भगवान् के

पवित्र नाम, यश तथा उनके गुणों की दिव्य वाणी को, जिस तरह से वे भगवद्गीता या भागवत में प्राप्त हैं, प्रसारित करने की व्यवस्था करे, तो उचित वातावरण उत्पन्न होगा, संसार में धर्म की पुनः स्थापना होगी और इस प्रकार प्रशासक लोग, जो संसार से भ्रष्टाचार के उन्मूलन को लेकर इतने उत्सुक हैं, सफल होंगे। कोई भी वस्तु बुरी नहीं है, यदि उसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाय।

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।

कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुद्वेष्टि—ईर्ष्यालु; कलिम्—कलि को; सम्राट्—सम्राट; सारम्-ग—मधुमक्खियों की भाँति यथार्थवादी; इव—सदृश; सार-भुक्—सार को ग्रहण करनेवाला; कुशलानि—शुभ वस्तुएँ; आशु—शीघ्र; सिद्ध्यन्ति—सफल होते हैं; न—कभी नहीं; इतराणि—अशुभ; कृतानि—किये जाने पर; यत्—जितना।

महाराज परीक्षित मधुमक्खियों की तरह यथार्थवादी थे, जो केवल (पुष्प के) सार को ग्रहण करती हैं। वे यह भलीभाँति जानते थे कि इस कलियुग में कल्याणकारी वस्तुएँ तुरन्त ही अपना शुभ प्रभाव डालती हैं, जबकि अशुभ कर्मों को वास्तविक रूप में सम्पन्न करना पड़ता है (जिससे प्रभाव जमा सकें)। अतएव उन्होंने कभी भी कलि से ईर्ष्या नहीं की।

तात्पर्य : कलियुग अधम युग कहलाता है। इस अधम युग में सारे जीव विचित्र स्थिति में रहते हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। अतः भगवान् की कृपा से, जब तक जीव किसी पाप-पूर्ण कार्य को वास्तव में करता नहीं है, तब तक वह उस कर्म का भागी नहीं होता। अन्य युगों में पाप-पूर्ण कर्म का विचार करने से ही मनुष्य कर्म-फल का भागी बन जाता था। इसके विपरीत, इस युग में जीव को शुभ कर्म के चिन्तन मात्र से ही उसका फल प्राप्त हो जाता है। अतएव, अत्यन्त विद्वान एवं अनुभवी राजा होने के कारण, महाराज परीक्षित कलि से कोई अनावश्यक द्वेष नहीं रखते थे, क्योंकि वे उसे कोई पाप-कर्म करने का अवसर ही नहीं देना चाहते थे। उन्होंने अपनी प्रजा को कलियुग के पाप-कर्मों में पड़ने से बचाया और साथ ही उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान नियत करके उसे भी पूरी सुविधा प्रदान की। श्रीमद्भागवत के अन्त में कहा गया है कि यद्यपि कलि के निन्द्य कृत्य विद्यमान हैं, तो भी कलियुग में बड़े-बड़े लाभ भी हैं। मनुष्य मात्र भगवन्नाम के जप-कीर्तन द्वारा मोक्ष-लाभ प्राप्त कर सकता है। अतएव महाराज परीक्षित ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार

हेतु संगठित प्रयास किया और उन्होंने जनता को कलि के पाश से बचा लिया। इसी लाभ के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े मुनि कलियुग की जय मनाते हैं। वेदों में भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण की लीलाओं की चर्चा से मनुष्य कलियुग की सारी बुराइयों से छुटकारा पा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में यह भी कहा गया है कि *श्रीमद्भागवत* के पाठ से परमेश्वर मनुष्य के हृदय में स्थापित हो जाते हैं। ये कलियुग के कुछ लाभ हैं और महाराज परीक्षित ने इन सशक्त लाभों को ग्रहण किया और असली वैष्णव होने के नाते, उन्होंने कलियुग का बुरा नहीं सोचा।

किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—हो सकता है; बालेषु—अल्पजनों में से; शूरेण—शक्तिमान; कलिना—कलि द्वारा; धीर—आत्म-संयमी; भीरुणा—डरपोक के द्वारा; अप्रमत्तः—सतर्क; प्रमत्तेषु—लापरवाहों में; यः—जो; वृकः—बाघ; नृषु—मनुष्यों में; वर्तते—विद्यमान है।

महाराज परीक्षित ने विचार किया कि अल्पज्ञ मनुष्य कलि को अत्यन्त शक्तिशाली मान सकते हैं, किन्तु जो आत्मसंयमी हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। राजा बाघ के समान शक्तिमान थे और मूर्ख, लापरवाह मनुष्यों की रखवाली करते थे।

तात्पर्य : जो भगवान् के भक्त नहीं हैं, वे लापरवाह तथा मन्दर्बुद्धि होते हैं। जब तक कोई पूरी तरह बुद्धिमान न हो, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं हैं, वे कलि के कार्यों के शिकार बन जाते हैं। जब तक हम महाराज परीक्षित द्वारा अपनाई गई कार्य-पद्धति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो जाते, तब तक समाज में श्रेष्ठतर परिस्थिति ला पाना सम्भव नहीं है। और यह कार्य-पद्धति है, भगवान् की भक्तिमय सेवा का प्रचार करना।

उपवर्णितमेतद्गुणः पुण्यं पारीक्षितं मया ।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपवर्णितम्—प्रायः हर बात का वर्णन हो चुका है; एतत्—ये सब; वः—तुमको; पुण्यम्—पवित्र; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित के विषय में; मया—मेरे द्वारा; वासुदेव—भगवान् कृष्ण की; कथा—कथाएँ; उपेतम्—के प्रसंग में; आख्यानम्—कथन; यत्—जो; अपृच्छत—तुमने मुझसे पूछा।

हे मुनियों, जैसा आपने मुझ से पूछा था, अब मैंने पवित्र राजा परीक्षित के इतिहास से सम्बन्धित भगवान् कृष्ण की कथाओं की लगभग सब बातें सुनाई हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत भगवान् के कार्यकलापों का इतिहास है। और भगवान् के कार्य-कलाप भगवद्-भक्तों को साथ लेकर ही सम्पन्न होते हैं। अतएव भक्तों का इतिहास भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों के इतिहास से भिन्न नहीं है। भगवद्-भक्त भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के कार्यकलापों को एक-सा ही समझता है, क्योंकि ये सभी दिव्य होते हैं।

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुर्मणः ।

गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

याः याः—जो जो; कथाः—कथाएँ; भगवतः—भगवान् के विषय में; कथनीय—मुझे कहनी थीं; उरु-कर्मणः—अद्भुत कर्म करनेवाले की; गुण—दिव्य गुण; कर्म—असामान्य कृत्य; आश्रयाः—निहित; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; संसेव्याः—सुनी जानी चाहिए; ताः—वे सब; बुभूषुभिः—अपना कल्याण चाहनेवालों द्वारा।

जो लोग जीवन में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् के दिव्य कार्यकलापों तथा गुणों से सम्बन्धित सारी कथाएँ अत्यन्त विनीत भाव से श्रवण करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य कार्यकलापों, गुणों तथा नामों का नियमपूर्वक श्रवण करने से मनुष्य शाश्वत जीवन की ओर अग्रसर होता है। नियमपूर्वक श्रवण करने का अर्थ होता है, उन्हें धीरे-धीरे सही और वास्तविक रूप में जानना और उन्हें इस तरह जानने का अर्थ है, शाश्वत जीवन प्राप्त करना, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे दिव्य यशस्वी कार्यकलाप जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के उपचार करने के लिए संस्तुत औषधि हैं, जिन्हें बद्धजीव भौतिक पुरस्कार समझता है। इस प्रकार जीवन की सिद्ध अवस्था की परिणति मानव-जीवन का लक्ष्य है और दिव्य आनन्द की उपलब्धि है।

ऋषय ऊचुः

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः ।

यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; सूत—हे सूत गोस्वामी; जीव—जीवित रहो; समाः—अनेक वर्षों तक; सौम्य—गम्भीर; शाश्वतीः—शाश्वत; विशदम्—विशेष रूप से; यशः—यश में; यः त्वम्—क्योंकि आप; शंससि—सुन्दर ढंग से कहते हो; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण की; मर्त्यानाम्—मर्त्य प्राणियों की; अमृतम्—जीवन की शाश्वतता, अक्षरता; हि—निश्चय ही; नः—हमारा ।

श्रेष्ठ मुनियों ने कहा : हे सौम्य सूत गोस्वामी! आप अनेक वर्षों तक जिएँ तथा शाश्वत यश प्राप्त करें, क्योंकि आप भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में उत्तम ढंग से बता रहे हैं। हम जैसे मर्त्य प्राणियों के लिए यह अमृत के समान है।

तात्पर्य : जब हम परमेश्वर के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, तो हमें सदा *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् ने खुद ने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका स्मरण करना चाहिए। उनके सारे कार्य, यहाँ तक कि जब वे मानव-समाज में कार्य करते हैं, तब भी दिव्य ही होते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अभिप्रेरित होते हैं, जो उनकी भौतिक शक्ति से भिन्न है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ऐसे कार्य *दिव्यम्* कहलाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य जीवों की भाँति, भौतिक शक्ति के वश में रहकर कार्य नहीं करते हैं, और जन्म नहीं लेते हैं। न ही उनका शरीर सामान्य जीवों के शरीर की भाँति भौतिक होता है, न ही परिवर्तनशील होता है। चाहे भगवान् से या किसी प्रामाणिक स्रोत से जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ लेता है, वह इस वर्तमान शरीर को त्यागने के बाद पुनः जन्म नहीं लेता। ऐसे प्रबुद्ध जीव को भगवद्धाम में प्रविष्ट होने दिया जाता है, जहाँ वह भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लग जाता है। अतएव जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के दिव्य कार्यकलाप उद्धृत हैं, उनके विषय में हम जितना ही श्रवण करते हैं, उतना ही हम उनकी दिव्य प्रकृति के विषय में जान पाते हैं और उतना ही भगवद्धाम के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सम्पन्न करने में; अस्मिन्—इस; अनाश्वासे—निश्चित रूप से नहीं; धूम—धुआँ; धूम्र-आत्मनाम्—कलुषित शरीर तथा मन; भवान्—आप; आपाययति—अत्यन्त प्रसन्न बना रहे हैं; गोविन्द—भगवान् के; पाद—पाँव; पद्म-आसवम्—कमल पुष्पों का अर्क; मधु—शहद ।

हमने अभी-अभी इस सकाम कृत्य, यज्ञ की अग्नि को सम्पन्न करना प्रारम्भ किया है और हमारे कार्य में अनेक अपूर्णताएँ होने के कारण इसके फल की कोई निश्चितता नहीं है। हमारे शरीर धुएँ से काले हो चुके हैं, लेकिन हम भगवान् गोविन्द के चरणकमलों के अमृत रूपी उस मधु से सचमुच तृप्त हैं, जिसे आप हम सबको वितरित कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने जो यज्ञाग्नि जलाई थी, वह निश्चय ही धुएँ तथा संशयों से पूर्ण थी, क्योंकि उसमें अनेक दोष थे। पहली कमी यह थी कि इस कलियुग में ऐसा यज्ञ-कार्य सम्पन्न करानेवाले पटु ब्राह्मणों का नितान्त अभाव है। ऐसे यज्ञों में यदि कोई दोष रह जाता है, तो पूरा खेल बिगड़ जाता है और फल भी अनिश्चित रहता है, जैसाकि कृषि-उद्यम में होता है। धान के खेत को जोतने से अच्छा फल तभी मिलता है, जब अच्छी वर्षा हो, अन्यथा फल अनिश्चित है। इसी प्रकार से इस कलियुग में भी किसी भी प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कराना अनिश्चित रहता है। कलियुग के निर्लज्ज लोभी ब्राह्मण अबोध जनता को ऐसे अनिश्चित यज्ञों का दिखावा करने के लिए फुसलाते हैं और उन्हें यह शास्त्रीय आदेश नहीं बताते कि कलियुग में कोई भी सकाम यज्ञोत्सव सम्भव नहीं, किन्तु इस युग में केवल एक ही यज्ञ सम्भव है और वह है भगवन्नाम का सामूहिक कीर्तन। सूत गोस्वामी एकत्र हुए मुनियों के समक्ष भगवान् के दिव्य कार्यकलाप सुना रहे थे और वे सब इन दिव्य कार्यकलापों के सुनने के फल का अनुभव कर रहे थे। कोई भी इसे व्यावहारिक रूप से उसी तरह अनुभव कर सकता है, जिस प्रकार भोजन करके उसके फल का अनुभव किया जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति इसी प्रकार कार्य करती है।

नैमिषारण्य के मुनि यज्ञ की अग्नि से उठनेवाले धुएँ से कष्ट पा रहे थे और फल के विषय में भी संशयपूर्ण थे, किन्तु सूत गोस्वामी जैसे अनुभूत व्यक्ति से सुनने के कारण वे पूरी तरह से संतुष्ट हुए थे। ब्रह्मवैवर्त पुराण में विष्णु शिवजी से कहते हैं कि कलियुग में लोग विविध प्रकार की चिन्ताओं से घिरे

होने के कारण सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन में व्यर्थ ही श्रम करेंगे, किन्तु यदि वे भक्तिमय सेवा में लगे तो परिणाम अधिक निश्चित होगा और शक्ति का भी क्षय नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना, आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए या तो भौतिक लाभ के लिए जो कुछ भी किया जायेगा, वह फलदायी नहीं हो सकता।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तुलयाम—के साथ तुलना करना; लवेन—क्षण मात्र से; अपि—भी; न—कभी नहीं; स्वर्गम्—स्वर्गलोक; न—न तो; अपुनः—भवम्—पदार्थ से मोक्ष; भगवत्-सङ्गि—भगवद्भक्त; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; किम्—क्या रखा है; उत—कहने में; आशिषः—सांसारिक आशीर्वाद, वर।

भगवद्भक्त के साथ क्षण भर की संगति के महत्त्व की तुलना न तो स्वर्गलोक की प्राप्ति से, न भौतिक-मुक्ति की प्राप्ति से की जा सकती है। तो फिर उन सांसारिक वरदानों के विषय में क्या कहा जाय, जो भौतिक सम्पन्नता के रूप में होते हैं और मर्त्यों के लिए हैं?

तात्पर्य : एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से तभी की जा सकती है, जब दोनों में कुछ समान बातें होती हैं। हम शुद्ध भक्त की संगति की तुलना किसी भौतिक वस्तु से नहीं कर सकते। जो लोग भौतिक सुख के आदि बन गये हैं, वे चन्द्र, शुक्र तथा इन्द्रलोक जैसे स्वर्गीय ग्रहों की कामना करते हैं, और जो भौतिक दार्शनिक चिन्तन में उन्नत होते हैं, वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हैं। जब मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक उन्नति से हताश हो उठता है, तो वह विपरीत प्रकार के मोक्ष की कामना करता है, जो अपुनर्भव या पुनर्जन्म न होना कहलाता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त स्वर्गलोक में मिलनेवाले सुख की कामना नहीं करते, न ही वे भवबन्धन से मोक्ष चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए स्वर्गलोक में प्राप्य भौतिक सुख मायाजाल के समान होता है और चूँकि वे सुख-दुख की भौतिक धारणाओं से पहले से मुक्त रहते हैं, अतएव वे यथार्थ रूप में भौतिक जगत से भी मुक्त होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के शुद्ध भक्त इस जगत तथा आध्यात्मिक जगत, दोनों ही में, दिव्य स्थिति में, अर्थात् भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। जिस प्रकार सरकारी नौकर सदा नौकर रहता है, चाहे वह घर में हो या आफिस में या किसी अन्य स्थान में, उसी प्रकार भक्त को किसी

भी भौतिक वस्तु से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि वह अनन्य भाव से भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। चूँकि उसे किसी भौतिक वस्तु से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव उसे भौतिक वरदानों से क्या मिलनेवाला है—चाहे वह राजपद हो या इससे भी बड़ा कोई अन्य पद, जो ये शरीर के नष्ट होते ही समाप्त हो जाते हैं? भक्तिमय सेवा शाश्वत है, इसका कोई अन्त नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक होती है। अतः, चूँकि शुद्ध भक्त की निधियाँ भौतिक निधियों से भिन्न होती हैं, अतएव दोनों की कोई तुलना नहीं है। सूत गोस्वामी भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के साथ उनकी संगति अद्वितीय है। भौतिक जगत में निपट भौतिकतावादी की संगति गर्हित समझी जाती है। भौतिकतावादी को *योषित् सङ्गी* कहा जाता है, क्योंकि उसकी आसक्ति भौतिक मायाजाल, अर्थात् स्त्रियों तथा अन्य साज-सामान से होती है। ऐसी आसक्ति आबद्ध है, क्योंकि इससे जीवन के वरदान तथा सम्पन्नता दोनों दूर चले जाते हैं। इसका बिल्कुल उलट है *भागवत सङ्गी* जो सदैव भगवान् के नाम, यश, गुण आदि की संगति में रहता है। ऐसी संगति सदैव वांछनीय है, पूजनीय है, प्रशंसनीय है और इसे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना जा सकता है।

को नाम तृप्येद् रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन है, वह; नाम—विशेष रूप से; तृप्येत्—पूरा सन्तोष प्राप्त कर ले; रस-वित्—अमृत-रस का आस्वाद करने में पटु; कथायाम्—कथाओं में; महत्-तम—जीवों में सबसे महान्; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त; गुणानाम्—गुणों का; अगुणस्य—दिव्य का; जग्मुः—निश्चित कर सके; योग-ईश्वराः—योग-शक्ति के स्वामी; ये—जो; भव—शिवजी; पाद्म—ब्रह्माजी; मुख्याः—प्रमुख।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (गोविन्द) समस्त महान् जीवों के एकमात्र आश्रय हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे यौगिक शक्तियों के स्वामीयों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। तो भला जो रसास्वादन में पटु है, वह क्या कभी उनकी कथाओं के श्रवण द्वारा पूरी तरह तृप्त हो सकता है?

तात्पर्य : शिवजी तथा ब्रह्माजी दो प्रधान देवता हैं। वे योगशक्ति से परिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, शिवजी ने उस विष का सागर पी लिया, जिसकी एक बूँद ही सामान्य जीव को मारने के लिए पर्याप्त थी। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने, शिवजीसमेत, अनेक देवताओं की सृष्टि की। अतएव ये दोनों ईश्वर अथवा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। किन्तु वे परम शक्तिमान नहीं हैं। परम शक्तिमान तो गोविन्द अथवा श्रीकृष्ण हैं। वे दिव्य हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली ईश्वरों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। अतएव भगवान् कृष्ण बड़े से बड़े जीव के एकमात्र आश्रय हैं। ब्रह्मा की गिनती जीवों में की जाती है, किन्तु वे हम सबों से महानतम हैं। तो फिर महानतम जीव भगवान् कृष्ण की दिव्य कथाओं के प्रति इतना आसक्त क्यों है? इसलिए कि वे समस्त आनन्द के आगार हैं। हर व्यक्ति हर वस्तु का कुछ न कुछ आस्वाद लेना चाहता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह उसी में असीम आनन्द प्राप्त करता है। भगवान् असीम हैं और उनके नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद, विविधता आदि अनन्त हैं और जो इनका आस्वाद करते हैं, वे असीम रूप से ऐसा करते हुए भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते। इस तथ्य की पुष्टि *पद्मपुराण* से होती है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।

इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

“योगीजन परम सत्य से असीम दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं, इसीलिए परम सत्य भगवान् राम भी कहलाते हैं।”

ऐसी दिव्य वार्ताओं का कोई अन्त नहीं है। संसारी मामलों में तृप्ति का नियम होता है, लेकिन अध्यात्म में ऐसी तृप्ति नहीं है। सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के समक्ष भगवान् कृष्ण की कथा को चालू रखना चाह रहे थे और ऋषियों ने भी उनसे लगातार सुनते रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की। चूँकि भगवान् दिव्य हैं और उनके गुण दिव्य हैं, अतएव ऐसी वार्ताएँ शुद्ध श्रोताओं के ग्राही भाव को बढ़ाती हैं।

तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।

हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हम सबका; भवान्—आप; वै—निश्चय ही; भगवत्—भगवान् से सम्बन्धित; प्रधानः—मुख्यतः; महत्-
तम—सबसे बड़े; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; हरेः—भगवान् का; उदारम्—निष्पक्ष; चरितम्—कार्यकलाप;
विशुद्धम्—दिव्य; शुश्रूषताम्—सुनने के इच्छुक हैं; नः—हम; वितनोतु—कृपा करके वर्णन करें; विद्वन्—हे विद्वान्।

हे सूत गोस्वामी, आप विद्वान् हैं तथा भगवान् के शुद्ध भक्त हैं, क्योंकि आपकी सेवा का प्रमुख उद्देश्य भगवान् हैं। अतएव आप कृपया हमें भगवान् की लीलाएँ कह सुनायें, जो समस्त भौतिक विचारधारा से ऊपर हैं, क्योंकि हम ऐसा संदेश प्राप्त करने के लिए आतुर हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वक्ता का एक ही लक्ष्य होना चाहिए और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की पूजा तथा सेवा। और ऐसी कथाओं के श्रोताओं को इन्हें सुनने के लिए आतुर होना चाहिए। जब ऐसा संयोग संभव हो जाता है अर्थात् जब योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता का संयोग हो जाता है, तभी दिव्य के विषय में अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वार्ता हो पाती है। व्यावसायिक वक्ता तथा भौतिकता में लिप्त श्रोता ऐसी वार्ताओं से कभी वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। व्यावसायिक वक्ता (वाचक) अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए *भागवत* सप्ताह का दिखावा करते हैं और भौतिकताग्रस्त श्रोता *भागवत सप्ताह* की इन वार्ताओं को किसी न किसी भौतिक लाभ यथा धार्मिकता, सम्पत्ति, इन्द्रिय-तुष्टि या मोक्ष के लिए सुनते हैं—*भागवत* की ऐसी वार्ताएँ भौतिक गुणों के कल्मष से शुद्ध नहीं रहतीं। लेकिन नैमिषारण्य के मुनियों तथा श्रील सूत गोस्वामी के मध्य चल रही वार्ताएँ दिव्य स्तर पर थीं। इनमें भौतिक लाभ का कोई उद्देश्य नहीं था। ऐसी वार्ताओं में श्रोता तथा वक्ता दोनों को असीम दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। अतएव वे ऐसी वार्ताओं को हजारों वर्षों तक चालू रख सकते हैं। अब तो *भागवत* सप्ताह केवल सात दिनों तक रखा जाता है और खेल खतम करने के बाद, श्रोता तथा वक्ता दोनों पहले की तरह भौतिक कार्यों में लग जाते हैं। वे ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वक्ता *भागवत-प्रधान* नहीं है और श्रोता भी *शुश्रूषताम्* नहीं है, जैसाकि ऊपर कहा गया है।

स वै महाभागवतः परीक्षिद्
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।

ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन

भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; महा-भागवतः—उच्चकोटि का भक्त; परीक्षित—राजा; येन—जिससे; अपवर्ग-आख्यम्—मोक्ष नाम से; अदभ्र—स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैयासकि—व्यास पुत्र; शब्दितेन—द्वारा उच्चारित; भेजे—ले जाया गया; खग-इन्द्र—पक्षियों का राजा, गरुड़; ध्वज—पताका, झंडा; पाद-मूलम्—पैरों के तलवे।

हे सूत गोस्वामी, कृपा करके भगवान् की उन्हीं कथाओं का वर्णन करें, जिनसे महाराज परीक्षित, जिनकी बुद्धि मोक्ष पर केन्द्रित थी, उन भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त कर सके, जो पक्षिराज गरुड़ के आश्रय हैं। इन्हीं कथाओं का उच्चारण व्यास-पुत्र (श्रील शुकदेव) द्वारा हुआ था।

तात्पर्य : मोक्ष के मार्ग को लेकर जिज्ञासुओं में कुछ मतभेद है। ऐसे दिव्य जिज्ञासु निर्विशेषवादी तथा भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवद्भक्त भगवान् के दिव्य रूप की पूजा करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी चमचमाते तेज या भगवान् की शारीरिक किरणों का ध्यान धरते हैं, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि महाराज परीक्षित को भगवान् के चरणकमलों की प्राप्ति व्यासदेव के पुत्र श्रील शुकदेव गोस्वामी के उपदेशों से हुई। श्रील शुकदेव गोस्वामी भी प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, जैसाकि भागवत (२.१.९) में उनकी स्वयं की उक्ति है किन्तु बाद में वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति आकृष्ट हुए और भक्त बन गये। ऐसे पूर्ण ज्ञान से युक्त भक्त महाभागवत या प्रथम कोटि के भक्त कहलाते हैं। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—प्राकृत, मध्यम तथा महाभागवत। प्राकृत अथवा तृतीय श्रेणी के भक्तों को भगवान् तथा उनके भक्तों का कोई विशेष ज्ञान नहीं होता, वे मन्दिर में पूजा करने वाले होते हैं। मध्यम अर्थात् द्वितीय श्रेणी के भक्त भगवान् को, भगवान् के भक्तों को, नवदीक्षितों तथा अभक्तों को भी भलीभाँति जानते हैं। लेकिन महाभागवत या प्रथम श्रेणी के भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित और हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति को देखते हैं। अतएव महाभागवत एक भक्त तथा अभक्त में कोई अन्तर नहीं मानता। महाराज परीक्षित ऐसे ही महाभागवत भक्त थे, क्योंकि उनको एक महाभागवत भक्त शुकदेव गोस्वामी से दीक्षा प्राप्त हुई थी। वे सबों पर समान रूप से दयालु थे, यहाँ तक कि कलि पर भी, तो अन्यो के विषय में क्या कहा जाय।

इस प्रकार संसार के दिव्य इतिहास में ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हुए हैं, जो बाद में भक्त बन गये हैं। लेकिन एक भक्त कभी भी निर्विशेषवादी नहीं बना है। यह एक तथ्य सिद्ध करता है कि दिव्य सीढ़ियों में जिस सीढ़ी पर भक्त बैठा है, वह उस सीढ़ी से ऊपर है, जिस पर निर्विशेषवादी स्थित है। *भगवद्गीता* (१२.५) में भी कहा गया है कि निराकार की सीढ़ी पर चिपका हुआ व्यक्ति लाभ की अपेक्षा कष्ट अधिक भोगता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को प्रदत्त ज्ञान ने उन्हें भगवद्भक्ति प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई। सिद्धि की यह अवस्था *अपवर्ग* या मोक्ष की अवस्था कहलाती है। मोक्ष सम्बन्धी सरल ज्ञान भौतिक ज्ञान है। भौतिक बन्धन से वास्तविक रूप से छूट जाना मुक्ति कहलाती है, लेकिन भगवान् की दिव्य सेवा की उपलब्धि मोक्ष की पूर्ण अवस्था कहलाती है। ऐसी अवस्था ज्ञान तथा वैराग्य से ही प्राप्त हो पाती है, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं (*भागवत* १.२.१२) और श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा जिस तरह का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया जाता है, उससे भगवान् की दिव्य सेवा की प्राप्ति होती है।

तत्रः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हमें; परम्—परम; पुण्यम्—पवित्र करनेवाला; असंवृत-अर्थम्—यथारूप; आख्यानम्—वार्ता; अति—अत्यन्त; अद्भुत—आश्चर्यजनक; योग-निष्ठम्—भक्तियोग में दृढ़; आख्याहि—कहिये; अनन्त—अनन्त; आचरित—कार्यकलाप; उपपन्नम्—पूर्ण; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित से कहे गये; भागवत—शुद्ध भक्तों के; अभिरामम्—विशेषतया अत्यन्त प्रिय।

अतः कृपा करके हमें अनन्त की कथाएँ सुनाएँ, क्योंकि वे पवित्र करनेवाली तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्हें ही महाराज परीक्षित को सुनाया गया था और वे भक्तियोग से परिपूर्ण होने के कारण शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को जो सुनाया गया था और जो शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय है, वह *श्रीमद्भागवत* है। *श्रीमद्भागवत* मुख्यतः परम अनन्त के कार्यकलापों की कथाओं से पूर्ण है, अतएव यह भक्तियोग अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा का विज्ञान है। इस प्रकार यह पर अर्थात् सर्वोपरि है,

क्योंकि समस्त ज्ञान तथा धर्म से समृद्ध होने पर भी, यह भगवान् की भक्तिमय सेवा में विशेष रूप से समृद्ध है।

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म

वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।

दौष्कल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं

महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रील सूत गोस्वामी ने कहा; अहो—कैसे; वयम्—हम; जन्म-भृतः—जन्म को प्राप्त; अद्य—आज; ह—स्पष्टतया; आस्म—हो चुके हैं; वृद्ध-अनुवृत्त्या—ज्ञान में बढ़े-चढ़े मनुष्यों की सेवा करने से; अपि—यद्यपि; विलोम-जाताः—मिश्र जाति में जन्मे; दौष्कल्यम्—जन्मजात अयोग्यता; आधिम्—कष्ट; विधुनोति—शुद्ध करती है; शीघ्रम्—तुरन्त; महत्-तमानाम्—महानों का; अभिधान—वार्ता; योगः—सम्बन्ध।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : हे ईश्वर, यद्यपि हम मिश्र (संकर) जाति में उत्पन्न हैं, फिर भी हमें ज्ञान में उन्नत उन महापुरुषों की सेवा करने तथा उनका अनुगमन करने से ही जन्म अधिकार प्राप्त हो गया। ऐसे महापुरुषों से बातचीत करने से ही मनुष्य निम्नकुल में जन्म होने के कारण उत्पन्न अवगुणों से तुरन्त ही निर्मल हो जाता है।

तात्पर्य : सूत गोस्वामी का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं हुआ था। वे एक मिश्र जाति के परिवार (विलोमज) में या असंस्कृत निम्नकुल में जन्मे थे। किन्तु महापुरुषों की संगति से यथा श्री शुकदेव गोस्वामी तथा नैमिषारण्य के महर्षियों की संगति से, निम्नकुल में जन्म होने की उनकी अयोग्यता मिट चुकी थी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु वैदिक प्रथाओं का पालन करने में इसी सिद्धान्त का पालन करते थे और अपनी दिव्य संगति से उन्होंने अनेक निम्नकुल में जन्मे या जन्म अथवा कर्म से अयोग्य ठहराये गये व्यक्तियों को भक्ति का पद दिलाया और उन्हें आचार्य या अधिकारी पद पर स्थापित किया। वे स्पष्ट कहते थे कि कोई भी मनुष्य, चाहे वह जन्म से ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि वह कृष्ण के विज्ञान में पारंगत है, तो उसे आचार्य या गुरु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

सूत गोस्वामी ने शुकदेव तथा व्यासदेव जैसे महर्षियों तथा महापुरुषों से कृष्ण का विज्ञान सीखा था और वे इतने सुयोग्य थे कि नैमिषारण्य के मुनि भी उनसे *श्रीमद्भागवत* के रूप में कृष्ण का विज्ञान

उत्सुकता से सुनना चाह रहे थे। इस प्रकार श्रवण करने तथा उपदेश देने द्वारा उन्हें महापुरुषों की दोहरी संगति प्राप्त हुई थी। दिव्य विज्ञान या कृष्ण का विज्ञान अधिकारियों से सीखना पड़ता है और जब कोई इस विज्ञान का उपदेश देता है, तो वह और भी योग्य बनता जाता है। इस प्रकार सूत गोस्वामी को दोनों लाभ प्राप्त थे, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने के समस्त अवगुणों तथा मानसिक क्लेशों से वे पूर्ण रूप से मुक्त थे। यह श्लोक निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने, न तो सूत गोस्वामी को निम्नकुल में जन्म लेने से अध्यात्म विज्ञान की शिक्षा देने से इनकार किया, न ही नैमिषारण्य के मुनियों ने उनके उपदेश सुनने से इनकार किया। इसका अर्थ यह होता है कि हजारों वर्ष पूर्व, निम्नकुल में जन्म होने से किसी को अध्यात्म विज्ञान सीखने या उपदेश देने पर कोई प्रतिबन्ध न था। हिन्दू समाज में तथाकथित जाति प्रथा की कट्टरता पिछले सौ वर्षों में प्रमुख बनी है, जब द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चजाति के कुल में जन्मे अयोग्य मनुष्यों की संख्या बढ़ गई। भगवान् श्री चैतन्य ने मूल वैदिक पद्धति को फिर से जीवित किया और उन्होंने ठाकुर हरिदास को *नामाचार्य* अर्थात् 'भगवान् के पवित्र नाम के महिमा का प्रचार करने वाले अधिकारी' का पद प्रदान किया, यद्यपि श्रील हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था।

भगवान् के शुद्ध भक्तों का ऐसा प्रताप होता है। गंगाजल को शुद्ध माना जाता है और जो कोई गंगा के जल में स्नान करता है, वह शुद्ध हो जाता है। किन्तु जहाँ तक भगवान् के महान् भक्तों का सम्बन्ध है, वे तो निम्नकुल में उत्पन्न अधम लोगों को अपने दर्शन से ही शुद्ध कर सकते हैं, तो फिर उनका संग करने के बारे में तो कहना ही क्या! भगवान् चैतन्य महाप्रभु संसार के दूषित वातावरण को संसार भर में योग्य प्रचारकों को भेज कर शुद्ध बनाना चाहते थे और अब यह भारतीयों का कर्तव्य है कि इस कार्य को वैज्ञानिक ढंग से हाथों में लें और सर्वोत्तम मानव कल्याण का कार्य करें। आधुनिक पीढ़ी के मानसिक रोग शारीरिक रोगों से अधिक गम्भीर हैं, अतएव यह उपयुक्त समय है कि देर लगाये बिना संसार भर में *श्रीमद्भागवत* के प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय। *महत्तमानाम् अभिधान* का अर्थ है महान् भक्तों का शब्दकोश या महान् भक्तों की वाणी से युक्त पुस्तक। महान् भक्तों की तथा भगवान् की वाणी का ऐसा कोश, वेद तथा अन्य सम्बद्ध ग्रंथ, विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में है।

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
 महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
 योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
 महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुतः—क्या कहें; पुनः—फिर; गृणतः—कीर्तन करनेवाला; नाम—पवित्र नाम; तस्य—उनका; महत्-तम—महान् भक्त;
 एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—जिसका आश्रय लिया जाय; यः—वह जो; अनन्त—अनन्त है; शक्तिः—शक्ति; भगवान्—
 भगवान्; अनन्तः—असंख्य; महत्—महान्; गुणत्वात्—ऐसे गुणों के कारण; यम्—जिनको; अनन्तम्—अनन्त नाम से;
 आहुः—पुकारा जाता है।

और उनके विषय में क्या कहा जाय, जो महान् भक्तों के निर्देशन में अनन्त के पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं, जिनकी असीम शक्ति है? भगवान्, जो शक्ति में असीम तथा गुणों में दिव्य हैं, वे अनन्त कहलाते हैं।

तात्पर्य : द्विजबन्धु या अल्पज्ञ, जो उच्च जातियों में उत्पन्न असंस्कृत व्यक्ति हैं, इस जीवन में निम्नजाति के लोगों के ब्राह्मण बनने के विरुद्ध अनेक दलीलें देते हैं। उनकी दलील है कि शूद्र या शूद्र से भी निम्न परिवार में जन्म पूर्व जन्म में किये गये पापकर्मों के कारण होता है। अतएव उसे इस कमी की पूर्ति निम्न-जाति में जन्म लेकर करनी होती है। किन्तु इन मिथ्या तर्क करनेवालों को उत्तर देने के लिए श्रीमद्भागवत का कथन है कि जो मनुष्य शुद्ध भक्त के निर्देशन में भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है, वह तुरन्त ही निम्न-जाति में जन्म लेने के दोष से छूट जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए कोई अपराध नहीं करता। भगवान् के नाम-जप करने में दस प्रकार के अपराध होते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त के निर्देशन में किया गया जप अपराधरहित होता है और भगवान् का अपराधरहित जप दिव्य होता है, अतएव ऐसा जप पूर्वजन्म के समस्त पापों के प्रभाव को तुरन्त दूर कर सकता है। ऐसा अपराधरहित जप यह संकेत देता है कि मनुष्य ने पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति को ठीक से समझ लिया है और इस प्रकार भगवान् की शरण ले ली है। आध्यात्मिक रूप से, भगवान् का नाम तथा स्वयं भगवान् परम अवस्था में होने के कारण एक हैं। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् के ही तुल्य शक्तिमान है। भगवान् सर्वशक्तिमान ईश्वरीय व्यक्तित्व हैं और उनके अनन्त नाम हैं, जो उनसे अभिन्न हैं और उन्हीं के समान शक्तिमान भी हैं। भगवद्गीता के अन्त में भगवान् बल देकर कहते हैं कि जो भी उनकी शरण में पूर्ण रूप से आता है, उसकी समस्त पापों से रक्षा की जाती है।

चूँकि वे तथा उनके नाम एक हैं, अतएव भगवान् का पवित्र नाम भक्तों को पापों के समस्त प्रभावों से बचा सकता है। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन निःसन्देह मनुष्य को निम्न कुल में जन्म लेने के दोष से उबार सकता है। भगवान् की असीम शक्ति भक्तों तथा अवतारों के असीम विस्तार से बढ़ती ही जाती है और इस प्रकार प्रत्येक भगवद्भक्त तथा सारे अवतार भी भगवान् की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। चूँकि भगवान् का भक्त भगवान् की शक्ति से ओतप्रोत हो जाता है, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने का किञ्चित् मात्र भी दोष उसके रास्ते में बाधक नहीं बन सकता।

एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एतावता—इतनी दूर तक; अलम्—अनावश्यक; ननु—यदि तनिक भी हो तो; सूचितेन—वर्णन से; गुणैः—गुणों से; असाम्य—अमाप्य; अनति-शायनस्य—जिसकी बराबरी न हो सके उसका; हित्वा—छोड़कर; इतरान्—अन्य; प्रार्थयतः—याचना करनेवालों का; विभूतिः—लक्ष्मी की कृपा; यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पैर; रेणुम्—धूल; जुषते—सेवा करता है; अनभीप्सोः—अनिच्छित का।

अब यह निश्चित हो गया कि वे (भगवान्) अनन्त हैं और उनके तुल्य कोई भी नहीं है। फलस्वरूप उनके विषय में कोई भी पर्याप्त रूप से कह नहीं सकता। बड़े-बड़े देवता भी स्तुतियों के द्वारा जिस लक्ष्मी देवी की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते, वही देवी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् ऐसी सेवा के लिए अनिच्छुक रहते हैं।

तात्पर्य : श्रुतियों के अनुसार, भगवान् या परमेश्वर परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना होता। उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है, न ही उनसे कोई बढ़कर है। उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं और उनका हर कार्य अपने सहज तथा सम्यक् रूप में नियमानुसार होता रहता है। इस प्रकार भगवान् अपने आप में परिपूर्ण हैं और उन्हें अन्य किसी से कुछ भी लेना नहीं होता, यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं से भी नहीं। अन्य लोग जिन लक्ष्मी देवी की कृपादृष्टि के लिए लालायित रहते हैं और अनेक प्रार्थनाओं के बाद भी, वे उन पर कृपा नहीं करतीं, वे भी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि उन्हें लक्ष्मीजी से कुछ भी लेना नहीं होता। परमेश्वर अपने गर्भोदकशायी विष्णु रूप में ब्रह्मा को अपनी नाभि से निकले

कलम से भौतिक संसार के प्रथम जीव के रूप में जन्म देते हैं, लक्ष्मीदेवी के गर्भ से नहीं, जो उनकी सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं। उनकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा परिपूर्णता के ये कुछ उदाहरण हैं। उन्हें कुछ करना नहीं होता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वे निराकार हैं। वे दिव्य रूप से अचिन्त्य शक्तियों से इतने परिपूर्ण हैं कि केवल उनके इच्छा करने मात्र से सब कुछ हो जाता है। उन्हें कोई शारीरिक या निजी प्रयास नहीं करना होता। इसीलिए वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी कहलाते हैं।

अथापि यत्पादनखावसृष्टं

जगद्विरिञ्चोपहतार्हणाम्भः ।

सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्

को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अपि—निश्चय ही; यत्—जिनके; पाद-नख—पाँव के नाखून; अवसृष्टम्—निकलते हुए; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; विरिञ्च—ब्रह्माजी; उपहत—एकत्र किया; अर्हण—पूजा; अम्भः—जल; स—सहित; ईशम्—शिवजी; पुनाति—शुद्ध करता है; अन्यतमः—और कौन; मुकुन्दात्—भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त; कः—कौन; नाम—नाम; लोके—संसार में; भगवत्—परमेश्वर; पद—पद, स्थित; अर्थः—योग्य।

भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो परमेश्वर कहलाने के योग्य हो?

ब्रह्माजी ने उनके पाँव के नाखूनों से निकलनेवाले जल को भगवान् शिवजी को मस्तक पर ग्रहण करने के निमित्त एकत्र किया। यही जल (गंगानदी) शिवजी समेत सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध बना रहा है।

तात्पर्य : अज्ञानियों द्वारा वैदिक साहित्य में अनेक देवों की अवधारणा सर्वथा भ्रान्त है। भगवान् एक एवं अद्वितीय हैं, लेकिन वे अनेक प्रकार से अपना विस्तार करते हैं और इसकी पुष्टि वेदों में होती है। भगवान् के ऐसे विस्तार असंख्य हैं, लेकिन उनमें से कुछ जीव भी हैं। जीव भगवान् के पूर्ण अंशों के समान शक्तिशाली नहीं होते, अतएव दो प्रकार के विस्तार (अंश) होते हैं। ब्रह्माजी सामान्यतया जीवों में से एक हैं और शिवजी भगवान् तथा जीवों के बीच माध्यम स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी तथा शिवजी भी, जो देवताओं में अग्रणी हैं, भगवान् विष्णु के तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हैं। लक्ष्मी देवी तथा ब्रह्मा एवं शिव जैसे शक्तिमान देवता, विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण की आराधना में लगे

रहते हैं। अतएव मुकुन्द (भगवान् कृष्ण) के अतिरिक्त और कौन अधिक शक्तिशाली हो सकता है, जो यथार्थ रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कहला सके? लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी तथा शिवजी स्वतंत्र रूप से शक्तिमान नहीं हैं; वे परमेश्वर के विस्तार रूप में ही शक्तिमान हैं। वे सभी भगवान् की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगे रहते हैं और उन्हीं की तरह सारे जीव भी। भगवान् के पूजक भक्तों के चार सम्प्रदाय हैं, जिनमें से ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय तथा श्री-सम्प्रदाय प्रमुख हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मी से प्रत्यक्ष आते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त, एक चौथा सम्प्रदाय कुमार-सम्प्रदाय है, जो सनत्कुमार से आता है। ये चारों मूल आज भी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे हुए हैं और ये सभी घोषित करते हैं कि भगवान् कृष्ण या मुकुन्द ही पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और अन्य कोई व्यक्ति न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है।

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिनके प्रति; अनुरक्ताः—दृढ़ता से आसक्त; सहसा—एकाएक; एव—निश्चय ही; धीराः—आत्मसंयमी; व्यपोह्य—एक ओर छोड़कर; देह—स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन; आदिषु—से सम्बन्धित; सङ्गम्—आसक्ति; ऊढम्—लगे हुए; व्रजन्ति—जाते हैं; तत्—वह; पारम-हंस्यम्—सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था; अन्त्यम्—तथा उसके परे; यस्मिन्—जिसमें; अहिंसा—अहिंसा; उपशमः—तथा वैराग्य; स्व-धर्मः—परिणामी वृत्ति।

परम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त आत्म-संयमी पुरुष, स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन सहित, एकाएक भौतिक आसक्ति से ओतप्रोत संसार को त्याग सकते हैं और जीवन के संन्यास आश्रम की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के लिए बाहर चले जाते हैं, जिसके फलस्वरूप अहिंसा तथा वैराग्य उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : केवल आत्म-संयमी व्यक्ति ही धीरे-धीरे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति अनुरक्त हो सकता है। आत्म-संयमी का अर्थ है, जो आवश्यकता से अधिक इन्द्रियभोग में लिप्त न हो। और जो लोग आत्म-संयमी नहीं हैं, वे इन्द्रियभोग में लिप्त हो जाते हैं। शुष्क दार्शनिक चिन्तन मन का सूक्ष्म इन्द्रियभोग है। इन्द्रियभोग मनुष्य को अंधकार के मार्ग की ओर ले जाता है। जो लोग आत्म-संयमी हैं,

वे भौतिक अस्तित्व के बद्ध जीवन से मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को अंधकार के मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, अपितु प्रकाश के मार्ग अथवा मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। आत्म-संयम इन्द्रियों को कृत्रिम ढंग से भौतिक भोग से रोकने से नहीं आता, अपितु अपनी शुद्ध इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाकर परमेश्वर में वास्तविक रूप से अनुरक्त होने से आता है। इन्द्रियों को बलपूर्वक दमित नहीं किया जा सकता, अपितु उन्हें उचित कार्य में लगाया जा सकता है। अतएव शुद्ध इन्द्रियाँ सदैव भगवान् की दिव्य सेवा में लगी रहती हैं। इन्द्रियों को संलग्न रखने की यह सिद्धावस्था भक्तियोग कहलाती है। अतएव जो लोग भक्तियोग के साधनों में अनुरक्त हैं, वे वास्तव में आत्म-संयमी हैं और वे भगवान् की सेवा करने के लिए अपना घरेलू या शारीरिक मोह सहसा छोड़ सकते हैं। यह परमहंस अवस्था कहलाती है। हंस दूध तथा पानी के मिश्रण में से केवल दूध ग्रहण करता है। इसी प्रकार जो माया की सेवा न करके, भगवान् की सेवा करना अपनाते हैं, वे परमहंस कहलाते हैं। उनमें स्वभावतः सारे सद्गुण यथा निरभिमानता, अहंकार से मुक्ति, अहिंसा, धैर्य, सरलता, विनयशीलता, पूजा, भक्ति तथा निष्ठा पाये जाते हैं। ये सारे दैवी गुण भगवद्भक्त में सहज रूप से पाये जाते हैं। ऐसे परमहंस, जो भगवान् की सेवा में ही लगे रहते हैं, अत्यन्त दुर्लभ हैं। यहाँ तक कि मुक्तात्माओं में भी ये दुर्लभ हैं। वास्तविक अहिंसा का अर्थ है, द्वेष से मुक्त होना। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने सहभागी जीव से द्वेष रखता है। किन्तु एक पूर्ण-परमहंस भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण पूर्ण रूप से द्वेषरहित होता है। वह प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर से सम्बन्धित समझते हुए प्यार करता है। वास्तविक वैराग्य का अर्थ है, ईश्वर पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। प्रत्येक जीव किसी अन्य पर आश्रित है, क्योंकि उसे ऐसा ही बनाया गया है। वास्तव में हर कोई भगवान् की कृपा पर आश्रित है, किन्तु जब वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है, तो वह प्रकृति की दशाओं पर निर्भर रहने लगता है। वैराग्य का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर निर्भरता का परित्याग और इस प्रकार भगवान् की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ है, पदार्थ पर निर्भर न रहकर भगवान् की कृपा पर पूर्ण श्रद्धा। यह परमहंस अवस्था भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जो परमेश्वर के लिए की जाने वाली भक्तिमय सेवा की विधि है।

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
 राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
 नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिण-
 स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निश्चय ही; पृष्टः—आपके द्वारा पूछा गया; अर्यमणः—सूर्य के समान शक्तिशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा; आचक्षे—वर्णन करे; आत्म-अवगमः—जहाँ तक मेरी जानकारी है; अत्र—यहाँ पर; यावान्—जहाँ तक; नभः—आकाश; पतन्ति—उड़ते हैं; आत्म-समम्—जहाँ तक हो सकता है; पतत्त्रिणः—पक्षी; तथा—उसी प्रकार; समम्—वैसे ही; विष्णु-गतिम्—विष्णु का ज्ञान; विपश्चितः—विद्वानों के माध्यम से भी।

हे सूर्य के समान शक्तिशाली ऋषियों, मैं आपको अपने ज्ञान के अनुसार विष्णु की दिव्य लीलाओं के वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा। जिस प्रकार पक्षी आकाश में उतनी ही दूर तक उड़ते हैं, जितनी उनमें क्षमता होती है, उसी प्रकार विद्वान भक्त-गण भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार करते हैं।

तात्पर्य : परम पूर्ण सत्य अनन्त है। कोई भी जीव अपनी सीमित क्षमता से अनन्त को नहीं जान सकता। भगवान् निराकार, साकार तथा अन्तर्धामी हैं। अपने निराकार पक्ष से वे सर्वव्यापी ब्रह्म हैं, तो अपने अन्तर्यामी स्वरूप से वे परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदय में विराजमान रहते हैं और अपने परम साकार रूप से वे अपने शुद्ध भक्त रूप में भाग्यशाली पार्षदों द्वारा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा के विषय बनते हैं। इन विभिन्न स्वरूपों में भगवान् की लीलाओं का आंशिक अनुमान बड़े-बड़े विद्वान भक्त ही लगा पाते हैं। अतएव श्रील सूत गोस्वामी ने अपनी अनुभूति के अनुसार भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने का जो कार्यभार अपने ऊपर लिया है, वह उचित ही है। वास्तव में स्वयं भगवान् ही अपना वर्णन कर सकते हैं और उनके विद्वान भक्त भी उनका उतना ही वर्णन कर सकते हैं, जितने के लिए वे उन्हें शक्ति प्रदान करते हैं।

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
 मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥ २४ ॥
 जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
 ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; धनुः—धनुष तथा बाण; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक धारण करके; विचरन्—घूमते हुए; मृगयाम्—शिकार के लिए; वने—जंगल में; मृगान्—हिरणों को; अनुगतः—पीछा करते; श्रान्तः—थका हुआ; क्षुधितः—भूखे; तृषितः—प्यासे होकर; भृशम्—अत्यधिक; जल-आशयम्—जल के आगार को, तालाब को; अचक्षाणः—खोज करते हुए; प्रविवेश—प्रवेश किया; तम्—उस प्रसिद्ध; आश्रमम्—शमीक ऋषि की कुटिया में; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—आसन लगाये; शान्तम्—चुप, शान्त; मीलित—बन्द किये; लोचनम्—आँखें।

एक बार महाराज परीक्षित वन में धनुष-बाण से शिकार करते हुए, हिरणों का पीछा करते-करते अत्यन्त थक गये और उन्हें अत्यधिक भूख तथा प्यास लग आई। जलाशय की खोज करते हुए वे सुविख्यात शमीक ऋषि के आश्रम में प्रविष्ट हुए, जहाँ उन्होंने आँखें बन्द किये, शान्त भाव से बैठे मुनि को देखा।

तात्पर्य : परमेश्वर अपने शुद्ध भक्तों पर इतने कृपालु हैं कि वे उचित समय पर ऐसे भक्तों को अपने पास बुलाकर भक्त के लिए शुभ स्थिति का निर्माण करते हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव उनके अत्यधिक थकने, भूखे तथा प्यासे होने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि भगवद्भक्त कभी ऐसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित नहीं होता। लेकिन भगवान् की इच्छा से ऐसा भक्त भी सांसारिक कार्यकलापों से वैराग्य लेने के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए, ऊपरी तौर से थका एवं प्यासा लग सकता है। मनुष्य को भगवद्धाम जाने के पूर्व सारे सांसारिक सम्बन्धों के प्रति आसक्ति का त्याग करना होता है, अतएव जब भक्त सांसारिक मामलों में अधिक तल्लीन रहने लगता है, तो भगवान् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं कि उसमें उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। परमेश्वर अपने शुद्ध भक्त को कभी भूलते नहीं, भले ही वह तथाकथित सांसारिकता में व्यस्त क्यों न हो। कभी-कभी वे विषम परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं और भक्त को सारी सांसारिकता से वैराग्य लेने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। भक्त भगवान् के संकेत को समझ लेता है, लेकिन अन्य लोग इसे प्रतिकूल एवं निराशाजनक मानते हैं। महाराज परीक्षित को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भागवत के उद्घाटन का निमित्त बनना था, जिस प्रकार उनके पितामह अर्जुन भगवद्गीता के लिए माध्यम बने थे। यदि भगवान् की इच्छा से अर्जुन में परिवार के प्रति स्नेह के फलस्वरूप मोह न उत्पन्न होता, तो भगवान् द्वारा सर्वजन हितार्थ भगवद्गीता का प्रवचन न हुआ होता। इसी प्रकार यदि इस समय परीक्षित महाराज थके, भूखे तथा प्यासे न होते, तो भागवत के प्रमुख अधिकारी श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा

श्रीमद्भागवत न कहा गया होता। अतएव यह उन परिस्थितियों का उपक्रम है, जिनके अन्तर्गत सर्व जनहिताय श्रीमद्भागवत कहा गया। अतएव यह उपक्रम एकदा अर्थात् 'एक बार' से प्रारम्भ होता है।

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।

स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

प्रतिरुद्ध—रुका हुआ; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणवायु; मनः—मन; बुद्धिम्—बुद्धि; उपारतम्—निश्चेष्ट; स्थान—जगह; त्रयात्—तीनों से; परम्—दिव्य; प्राप्तम्—प्राप्त किया गया; ब्रह्म-भूतम्—परब्रह्म के समान; अविक्रियम्—अप्रभावित।

मुनि की इन्द्रियाँ, श्वास, मन तथा बुद्धि सभी ने भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये थे और वे तीनों (जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्ति) स्थितियों से अलग होकर, परम पूर्ण के समान गुणात्मक दृष्टि से दिव्य पद प्राप्त करके, समाधि में स्थित थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वे मुनि, जिनके आश्रम में राजा ने प्रवेश किया था, योग समाधि में थे, यह दिव्य पद तीन विधियों से प्राप्त किया जाता है : ज्ञान अर्थात् सैद्धान्तिक अध्यात्म ज्ञान से, योग अर्थात् शरीर के क्रियात्मक तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों को वश में करके समाधि की वास्तविक अनुभूति से तथा भक्ति योग की अत्यन्त स्वीकृत विधि अर्थात् इन्द्रियों को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाने से। भगवद्गीता से भी हमें पदार्थ से जीव तक की अनुभूति के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। हमारे भौतिक मन तथा शरीर, जीव अर्थात् आत्मा से विकसित होते हैं और हम पदार्थ के तीन गुणों के प्रभाव में आकर अपनी असली पहचान (स्वरूप) को भूल जाते हैं। ज्ञानयोग सैद्धान्तिक रूप से आत्मा की वास्तविकता के विषय में चिन्तन है। लेकिन भक्तियोग आत्मा को सचमुच कर्म में लगाता है। पदार्थ की अनुभूति की अवस्था को पार करने के बाद इन्द्रियों की अधिक सूक्ष्म अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों की अवस्था को सूक्ष्मतर मन द्वारा, और मन को प्राण की गतिविधियाँ द्वारा और फिर उसे क्रमशः बुद्धि द्वारा पार कर दिया जाता है। बुद्धि से आगे, जीवंत आत्मा को योग पद्धति की यांत्रिक क्रियाओं के द्वारा अथवा इन्द्रियों को वश में करके ध्यान का अभ्यास, प्राणायाम साधना तथा दिव्य पद तक उठने के लिए बुद्धि के प्रयोग के द्वारा अनुभव किया जाता है। यह समाधि शरीर की

सारी भौतिक क्रियाओं को रोक देती है। राजा ने मुनि को इसी अवस्था में देखा। उन्होंने मुनि को निम्न प्रकार से भी देखा।

विप्रकीर्णजटाच्छत्रं रौरवेणाजिनेन च ।

विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

विप्रकीर्ण—बिखरे हुए; जट-आच्छत्रम्—लम्बी-लम्बी जटाओं से ढँका; रौरवेण—मृगछाला से; अजिनेन—चर्म से; च—भी; विशुष्यत्—सूखा हुआ; तालुः—तालू; उदकम्—जल; तथा-भूतम्—उस अवस्था में; अयाचत—माँगा।

ध्यान-मग्न मुनि मृग-चर्म लपेटे थे और इनकी लम्बी जटाएँ उनके सारे शरीर पर बिखरी हुई थीं। प्यास के मारे सूखे तालू वाले राजा ने उनसे जल माँगा।

तात्पर्य : प्यासे होने के कारण राजा ने मुनि से जल माँगा। ऐसे महान् भक्त राजा ने समाधि में लीन मुनि से जल माँगा यह निश्चय ही दैवकृत था। अन्यथा ऐसी विलक्षण घटना की कोई सम्भावना न थी। इस तरह महाराज परीक्षित विषम परीस्थिति में रखे गये, जिससे आगे चलकर *श्रीमद्भागवत* का प्राकट्य हो सका।

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।

अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध—न प्राप्त कर सकने से; तृण—दर्भासन; भूमि—स्थान; आदिः—इत्यादि; असम्प्राप्त—ठीक से स्वागत न होकर; अर्घ्य—जल दान; सूनृतः—मधुर वचन; अवज्ञातम्—इस प्रकार उपेक्षित; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं को; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; चुकोप—क्रुद्ध हुए; ह—इस तरह।

आसन, बैठने का स्थान, जल तथा मधुर वचनों के द्वारा किसी प्रकार से स्वागत न किये जाने पर, राजा ने अपने आपको उपेक्षित समझा और इस तरह सोचते हुए वे क्रुद्ध हो गये।

तात्पर्य : वैदिक नियमों की संहिता में स्वागत करने का नियम यह है कि यदि घर पर शत्रु भी आये जाये, तो उसका सभी प्रकार से सम्मान किया जाना चाहिए। उसे यह सोचने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए कि वह अपने शत्रु के घर आया है। जब भगवान् कृष्ण, अर्जुन तथा भीमसेन के साथ मगध के राजा जरासन्ध के यहाँ पहुँचे, तो उसने सम्माननीय शत्रुओं का राजकीय स्वागत किया।

अतिथि शत्रु भीम को जरासन्ध से लड़ना था, फिर भी उसका शानदार सत्कार किया गया। रात्रि में वे मित्रों तथा अतिथियों के रूप में परस्पर बातें करते और दिन में जान की बाजी लगाकर मल्लयुद्ध करते। यह था सत्कार का नियम। सत्कार नियमों में यह आदेश है कि जिस निर्धन व्यक्ति के पास अतिथि को देने के लिए कुछ भी न हो, उसे चाहिए कि बैठने के लिए चटाई दे, पीने के लिए एक गिलास जल दे तथा कुछ मधुर वचन कहे। अतएव अतिथि के सत्कार में, चाहे वह मित्र हो या शत्रु, कोई खर्च नहीं लगता। यह तो शिष्टाचार की बात है।

जब महाराज परीक्षित शमीक ऋषि के द्वार में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने ऋषि द्वारा राजोचित सत्कार की आशा नहीं की थी, क्योंकि वे जानते थे कि ऋषि-मुनि भौतिक दृष्टि से धन सम्पन्न नहीं होते। लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि उन्हें बैठने का आसन, एक गिलास जल तथा कुछ मीठे वचन भी नहीं मिल पायेंगे। वे, न तो सामान्य अतिथि थे, न ही ऋषि के शत्रु थे, अतएव ऋषि के इस शुष्क सत्कार से राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वस्तुतः जब राजा को जल की अत्यन्त आवश्यकता थी, तो उनका क्रुद्ध होना उचित था। ऐसी विकट स्थिति में क्रुद्ध होना राजा के लिए अस्वाभाविक न था, लेकिन चूँकि राजा स्वयं किसी महान् सन्त से कम न थे, अतएव उनका क्रुद्ध होना और फिर कार्यवाही करना आश्चर्यजनक था। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि भगवान् की सर्वोपरि इच्छा से ऐसा होना ही था। राजा भगवान् के महान् भक्त थे और ऋषि भी राजा के ही समान थे। लेकिन भगवान् की इच्छा थी कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों कि जिनसे राजा को अपने पारिवारिक तथा सरकारी कार्यों से अनासक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में पूर्ण रूप से आत्म-समर्पित होना पड़े। कभी-कभी कृपामय भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के लिए ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिससे वे उन्हें भौतिक संसाररूपी दलदल से अपने पास खींच सकें। लेकिन ऊपर से सारी परिस्थितियाँ भक्तों के लिए अत्यन्त निराशाजनक सी लगती हैं। भगवान् के भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहते हैं और किसी भी दशा में, चाहे निराशा हो या सफलता, भगवान् भक्तों के परम पथ-प्रदर्शक रहते हैं। अतएव शुद्ध भक्त, निराशा की, सारी परिस्थितियों को भगवान् के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं।

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।

ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अभूत-पूर्वः—जो पहले कभी न हुआ हो, (पहला); सहसा—एकाएक; क्षुत्—भूख; तृड्भ्याम्—तथा प्यास से; अर्दित—पीड़ित होकर; आत्मनः—अपने आप; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण; प्रति—के प्रति; अभूत्—हो गये; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; मत्सरः—ईर्ष्यालु; मन्युः—क्रुद्ध; एव—इस प्रकार; च—तथा ।

हे ब्राह्मणों, ब्राह्मण मुनि के प्रति राजा का क्रोध तथा द्वेष अभूतपूर्व था, क्योंकि परिस्थितियों ने उन्हें भूखे तथा प्यासे बना दिये थे ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए एक मुनि तथा ब्राह्मण पर इस तरह क्रुद्ध तथा द्वेषपूर्ण होना निस्संदेह अभूतपूर्व था । राजा भलीभाँति जानते थे कि ब्राह्मण, साधु, बालक, स्त्रियाँ तथा वृद्ध पुरुष दण्ड के दायरे के बाहर होते हैं । इसी प्रकार, राजा भले ही भंयकर भूल क्यों न करे, कभी गुनहगार नहीं माना जाता । लेकिन यहाँ पर महाराज परीक्षित, भगवान् की इच्छा से, अपनी भूख तथा प्यास के कारण मुनि पर क्रुद्ध हो गये । राजा का अपनी प्रजा को अपना सत्कार न होने या अपनी उपेक्षा करने के लिए दण्ड देना ठीक था, लेकिन चूँकि दोषी एक मुनि तथा ब्राह्मण थे, अतएव यह अभूतपूर्व घटना थी । जिस तरह भगवान् किसी से ईर्ष्या नहीं करते, उसी तरह भगवद्भक्त भी कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता । महाराज परीक्षित के इस आचरण की एकमात्र सफाई यही है कि भगवान् द्वारा ऐसा पूर्वनियोजित था ।

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा ।

विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—राजा; तु—किसी; ब्रह्म-ऋषेः—ब्राह्मण ऋषि के; अंसे—कंधे पर; गत-असुम्—निर्जीव; उरगम्—सर्प; रुषा—क्रोध में; विनिर्गच्छन्—जाते हुए; धनुः—कोट्या—धनुष के अग्रभाग से; निधाय—रखकर; पुरम्—महल को; आगतः—वापस आये ।

इस प्रकार अपमानित होकर, राजा ने लौटते समय अपने धनुष से एक मृत सर्प उठाया और उसे क्रोधवश मुनि के कंधे पर रख दिया; तब वे अपने राजमहल को लौट आये ।

तात्पर्य : राजा ने मुनि के साथ 'जैसे को तैसा' का व्यवहार किया; यद्यपि वे इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण कार्यवाही के अभ्यस्त न थे । भगवद् इच्छा से, राजा ने लौटते समय, अपने समक्ष एक मरा

हुआ सर्प देखा और सोचा कि जिस मुनि ने उन्हें इस प्रकार उपेक्षित समझा है, यदि उनके गले में मृत सर्प की माला पहना दी जाय, तो वे भी इसी प्रकार उपेक्षित हो जाय। सामान्य व्यवहार में, यह अधिक अस्वाभाविक न था, लेकिन एक ब्राह्मण मुनि के साथ महाराज परीक्षित का यह व्यवहार निश्चित रूप से अभूतपूर्व था। यह भगवान् की इच्छा से ही हुआ।

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।

मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; किम्—क्या; निभृत-अशेष—ध्यानमग्न मुद्रा; करणः—इन्द्रियाँ; मीलित—बन्द, मुँदी; ईक्षणः—आँखें; मृषा—झूठी; समाधिः—समाधि; आहो—रहता है; स्वित्—यदि ऐसा है; किम्—या तो; नु—लेकिन; स्यात्—हो सकता है; क्षत्र-बन्धुभिः—निम्न क्षत्रिय के द्वारा।

लौटने पर वे सोचने लगे तथा मन ही मन तर्क करने लगे कि क्या मुनि इन्द्रियों को एकाग्र करके तथा आँखें बन्द किये सचमुच समाधि में थे, अथवा वे निम्न क्षत्रिय का सत्कार करने से बचने के लिए समाधि का स्वाँग रचा रहे थे?

तात्पर्य : भगवद्भक्त होने के कारण, राजा ने अपनी इस कार्यवाही को उचित नहीं समझा, अतएव वे सोचने लगे कि क्या मुनि सचमुच समाधि में थे, अथवा वे बहाना बना रहे थे, जिससे उन्हें राजा का स्वागत न करना पड़े, क्योंकि राजा क्षत्रिय था अतएव पद में उनसे निम्न था। उत्तम जीव जब कभी कोई त्रुटि करता है, तो उसके मन में तुरन्त पश्चात्ताप होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी यह नहीं मानते कि राजा का यह कार्य उनके विगत दुष्कर्मों के कारण था। यह योजना तो भगवान् ने राजा को अपने घर, भगवद्धाम में वापस बुलाने के लिए बनाई थी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, यह योजना भगवान् की इच्छा से बनी थी और भगवान् की इच्छा से निराशा की स्थिति उत्पन्न हुई थी। योजना यह थी कि राजा के इस तथाकथित दुष्कर्म के लिए कलि के प्रभाव से दूषित हो चुका एक अनुभव-विहीन ब्राह्मण बालक शाप देगा। इस तरह यह अच्छा ही होगा कि राजा अपने घर-बार को छोड़ सकेगा और श्रील शुकदेव गोस्वामी के साथ सम्बन्ध होने से, श्रीमद्भागवत प्रस्तुत होगा, जिसे भगवान् का ग्रंथावतार समझा जाता है। इस ग्रंथावतार से भगवान् की दिव्य लीलाओं के बारे में, विशेष रूप से ब्रजभूमि की दिव्य गोपिकाओं के साथ उनकी रासलीला

की अत्यन्त मनोहारी जानकारी प्राप्त होती है। भगवान् की इस विशिष्ट लीला का विशेष महत्त्व है, क्योंकि जो भी भगवान् की इस लीला को ठीक तरह से समझता है, वह निश्चय ही संसारी कामवासना से विरत हो जाता है और भगवान् की भक्तिमय सेवा के भव्य मार्ग पर प्रतिष्ठित हो जाता है। शुद्ध भक्त की संसारी निराशा उसे उच्चतर दिव्य स्थान प्रदान कराने के निमित्त होती है। अर्जुन तथा पाण्डवों को उनके चचेरे बन्धुओं से षड्यंत्र कराकर, भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध की भूमिका का निर्माण किया। यह सब भगवान् की वाणी की प्रतिनिधि *भगवद्गीता* का अवतार कराने के लिए था। इसी प्रकार राजा परीक्षित को विषम परिस्थिति में डालकर, भगवान् की इच्छा से *श्रीमद्भागवत* का अवतार कराया गया। भूख तथा प्यास से क्षुब्ध होना तो मात्र दिखावा था, क्योंकि राजा ने माता के गर्भ में रहते हुए भी बहुत सहन किया था। वे अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र के जाज्वल्यमान ताप से कभी विचलित नहीं हुए। राजा की यह व्यथापूर्ण स्थिति निश्चय ही अभूतपूर्व थी। महाराज परीक्षित जैसे भक्त भगवान् की कृपा से ऐसी आपदाओं को सहन करने के लिए काफी शक्तिशाली होते हैं और वे कभी विचलित नहीं होते। अतएव इस प्रसंग में सारी परिस्थिति भगवान् द्वारा नियोजित थी।

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।

राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (मुनि का); पुत्रः—पुत्र; अति—अत्यधिक; तेजस्वी—शक्तिमान; विहरन्—खेलते हुए; बालकः—बालकों के साथ; अर्भकैः—जो अभी बचकाना थे; राज्ञा—राजा द्वारा; अघम्—विपत्ति; प्रापितम्—दिया गया; तातम्—पिता को; श्रुत्वा—सुनकर; तत्र—वहीं पर; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोला।

उस मुनि का एक पुत्र था, जो ब्राह्मण-पुत्र होने के कारण अत्यन्त शक्तिमान था। जब वह अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, तभी उसने अपने पिता की विपत्ति सुनी, जो राजा द्वारा लाई गई थी। वह बालक वहीं पर इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के उत्तम शासन के कारण अल्पवय-बालक, जो अभी अन्य अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, योग्य ब्राह्मण के समान तेजस्वी हो सकता था। यह बालक श्रृंगी नाम से जाना जाता था और उसे अपने पिता से ब्रह्मचर्य की अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी, जिससे वह इसी आयु में एक ब्राह्मण के समान शक्तिशाली (तेजस्वी) हो गया था। लेकिन, चूँकि कलियुग

जीवन के चार आश्रमों की सांस्कृतिक धरोहर को विनष्ट करने के अवसर की ताक में था, अतएव इस अनुभवशून्य बालक ने कलियुग को अवसर प्रदान किया कि वह वैदिक संस्कृति के क्षेत्र में प्रविष्ट हो सके। कलि के प्रभाव से, जीवन के निम्नतर आश्रमों के प्रति घृणा के भाव का प्रारम्भ इस ब्राह्मण बालक से हुआ और इस तरह दिन-प्रति-दिन सांस्कृतिक जीवन क्षीण होता गया। इस तरह ब्राह्मण-अन्याय के पहले शिकार महाराज परीक्षित हुए और इस प्रकार कलि के आघात के प्रति राजा द्वारा दिया जाने वाला संरक्षण शिथिल पड़ गया।

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव ।

स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपानां शुनामिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहो—जरा देखो तो; अधर्मः—अधर्म; पालानाम्—शासकों का; पीव्नाम्—पाले गये का; बलि-भुजाम्—कौवों की तरह; इव—सदृश; स्वामिनि—स्वामी को; अघम्—पाप; यत्—जो है; दासानाम्—नौकरों का; द्वार-पानाम्—दरवाजे की रखवाली करनेवाले; शुनाम्—कुत्ते के; इव—सदृश।

[ब्राह्मण बालक शृंगी ने कहा:] अरे! शासकों के पापों को तो देखो, जो अधिशासी-दास-सिद्धान्तों के विरुद्ध, कौवों तथा द्वार के रखवाले कुत्तों की तरह अपने स्वामियों पर पाप ढाते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मणों को समाज-रूपी शरीर का शिर तथा मस्तिष्क माना जाता है और क्षत्रियों को बाहु। बाहुओं की आवश्यकता शरीर को सभी प्रकार की क्षतियों से बचाने के लिए पड़ती है, लेकिन बाहुओं को सिर तथा मस्तिष्क के निर्देशों के अनुसार कार्य करना होता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है, जो परमेश्वर द्वारा की गई है, क्योंकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि चारों वर्ण, जिनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं, मनुष्यों के गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। स्वाभाविक है कि ब्राह्मण के पुत्र के लिए अपने योग्य पिता के निर्देशन में ब्राह्मण बनने के अच्छे अवसर प्राप्त रहते हैं, जिस प्रकार एक चिकित्सक के पुत्र के लिए योग्य चिकित्सक बनने का अच्छा अवसर रहता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है। पुत्र को पिता की योग्यता का लाभ उठाना चाहिए और एक ब्राह्मण या चिकित्सक बनना चाहिए, अन्य कुछ नहीं। योग्य हुए बिना कोई न तो ब्राह्मण बन सकता है, न चिकित्सक और यही समस्त शास्त्रों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का

अभिमत है। यहाँ पर महान् ब्राह्मण के योग्य पुत्र शृंगी ने, जन्म से तथा प्रशिक्षण दोनों से अपेक्षित ब्राह्मणशक्ति प्राप्त कर ली थी, किन्तु उसमें संस्कृति का अभाव था, क्योंकि वह अनुभव-हीन बालक था। कलि के प्रभाव से, यह ब्राह्मण बालक अपनी ब्राह्मणशक्ति से गर्वित हो उठा और गलत ढंग से महाराज परीक्षित की तुलना कौवों तथा रखवाले कुत्तों से कर बैठा। राजा निश्चय ही इस अर्थ में राज्य के रखवाले कुत्ते की भाँति ही होता है, क्योंकि उसे सीमा की सुरक्षा के लिए उस पर कड़ी निगरानी रखनी पड़ती है तथापि उसे कुत्ता कहकर सम्बोधित करना अल्प-सभ्य बालक का द्योतक है। इस प्रकार ब्राह्मणशक्ति का पतन तब से प्रारम्भ हुआ, जब वे संस्कृति के बिना जन्म-सिद्ध अधिकार पर बल देने लगे। ब्राह्मण जाति का पतन कलियुग में शुरू हुआ। चूँकि ब्राह्मण समाज-व्यवस्था के प्रमुख होते हैं, अतएव समाज के अन्य वर्ण भी पतित होने लगे। ब्राह्मणों के पतन का यह सूत्रपात शृंगी के पिता के लिए अत्यधिक पश्चात्ताप का कारण बना, जैसाकि हम आगे देखेंगे।

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि गृहपालो निरूपितः ।

स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों के पुत्र; हि—निश्चय ही; गृह-पालः—रक्षक कुत्ते; निरूपितः—नामधारी; सः—वह; कथम्—किस बल पर; तत्-गृहे—अपने (स्वामी) के घर में; द्वाः-स्थः—द्वार पर बैठा; स-भाण्डम्—उसी भाँडे में; भोक्तुम्—खाने के लिए; अर्हति—योग्य है।

राजाओं की सन्तानें निश्चित रूप से द्वाररक्षक कुत्ते नियुक्त हुई हैं और उन्हें द्वार पर ही रहना चाहिए। तो किस आधार पर ये कुत्ते घर में घुसकर अपने स्वामी की ही थाली में खाने का दावा करते हैं?

तात्पर्य : अनुभव-हीन ब्राह्मण बालक अच्छी तरह जानता था कि राजा ने उसके पिता से पानी माँगा था और उसके पिता ने कुछ जवाब नहीं दिया। उसने एक असभ्य बालक के लिए उपयुक्त अशिष्ट ढंग से अपने पिता की असत्कारशीलता की सफाई देने का प्रयत्न किया। उसे राजा का ठीक से सत्कार न किये जाने का तनिक भी दुख न था। इसके विपरीत, वह गलत काम को कलियुग के ब्राह्मणों की भाँति, लाक्षणिक ढंग से, वैध ठहरा रहा था। उसने राजा की तुलना दरवाजे के कुत्ते से की, अतएव राजा के लिए ब्राह्मण के घर में घुसकर उसी पात्र से जल माँगना अनुचित था। कुत्ते को स्वामी ही

पालता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह स्वामी की ही थाली में खायेगा और पियेगा। यह झूठी प्रतिष्ठा की मानसिकता ही पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के पतन का कारण है और हम यह देख सकते हैं कि इसका सूत्रपात एक अनुभव-शून्य ब्राह्मण बालक ने किया था। जिस प्रकार कुत्तों को कमरे तथा चूल्हे-चौके में नहीं घुसने दिया जाता, भले स्वामी ने ही कुत्ता पाल रखा हो, उसी प्रकार शृंगी के अनुसार राजा को कोई अधिकार नहीं था कि वह शमीक ऋषि के घर में घुसता। बालक के मत से राजा ही गलती पर था, उसका अपना पिता नहीं और इस तरह उसने अपने शान्त रहने वाले पिता को न्यायपूर्ण ठहराया।

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।

तद्भिन्नसेतूनद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—भगवान् कृष्ण के; गते—इस संसार से प्रयाण करके जाने पर; भगवति—भगवान्; शास्तरि—परम शासक; उत्पथ-गामिनाम्—उत्पातियों को; तत् भिन्न—विलग होने से; सेतून्—रक्षक; अद्य—आज; अहम्—मैं; शास्मि—दण्ड दूँगा; पश्यत—जरा देखना; मे—मेरा; बलम्—पराक्रम।

सबों के परम शासक भगवान् श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पश्चात्, हमारे रक्षक तो चले गये, लेकिन ये उपद्रवी फल-फूल रहे हैं। अतएव इस मामले को मैं अपने हाथ में लेकर उन्हें दण्ड दूँगा। अब मेरे पराक्रम को देखो।

तात्पर्य : वह अनुभवहीन ब्राह्मण, अल्प ब्रह्म-तेज से गर्वित होकर, कलियुग के जादू से प्रभावित हो उठा। महाराज परीक्षित ने कलियुग को चार स्थानों में रहने की छूट दे दी थी, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, किन्तु राजा के अत्यन्त दक्ष शासन में कलि को इन नियत स्थानों में कहीं भी रहने को स्थान न मिल पाया। अतएव कलियुग अपनी सत्ता जताने की ताक में था और भगवान् की कृपा से उसे इस गर्वित अनुभवहीन ब्राह्मण बालक रूप में छिद्र मिल ही गया। यह छोटा सा ब्राह्मण विनाश के लिए अपना तेज दिखाना चाह रहा था और उसने महाराज परीक्षित जैसे महान् राजा को दण्ड देने की घृष्टता की। वह भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद उनका स्थान ग्रहण करना चाह रहा था। ये उन उपद्रवियों के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, जो कलि के प्रभाव से श्रीकृष्ण का स्थान लेना चाहते हैं। थोड़ी सी शक्ति से सम्पन्न होकर, एक उपद्रवी भगवान् का अवतार बनना चाहता है। इस संसार से भगवान् कृष्ण के प्रयाण

के बाद, कई मिथ्या अवतार हुए हैं और वे भोली-भाली जनता की आध्यात्मिक आज्ञाकारिता का स्वीकार करके अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए जनता को गुमराह कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, कलि को इस ब्राह्मण पुत्र शृंगी के माध्यम से अपना शासन जताने का अवसर प्राप्त हो सका।

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः ।

कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; रोष-ताम्र-अक्षः—क्रुद्ध होने के कारण लाल-लाल आँखें किये; वयस्यान्—संगियों को; ऋषि-बालकः—ऋषि का पुत्र; कौशिकी—कौशिक नदी का; आपः—जल; उपस्पृश्य—स्पर्श करके; वाक्—शब्द; वज्रम्—वज्र; विससर्ज—फेंका; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

क्रोध से लाल-लाल आँखें किये, अपने संगियों से कहकर, उस ऋषिपुत्र ने कौशिक नदी के जल का स्पर्श किया और निम्नलिखित शब्दरूपी वज्र छोड़ा।

तात्पर्य : जैसाकि इन श्लोक से प्रकट होता है कि जिन परिस्थितियों में महाराज परीक्षित को शाप दिया गया, वे अत्यन्त बचकानी थीं। शृंगी अपने अबोध संगियों के बीच अपना अविवेक दिखा रहा था। कोई भी समझदार व्यक्ति उसे सारे मानव समाज के प्रति इतनी भारी क्षति करने से रोक लेता। किन्तु उस अनुभव-हीन ब्राह्मण-पुत्र ने अपनी अर्जित ब्रह्मशक्ति का दिखावा करने के उद्देश्य से, महाराज परीक्षित जैसे राजा का वध करके बहुत बड़ी भूल की।

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।

दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्गुहम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लङ्घित—पार करते हुए; मर्यादम्—शिष्टाचार; तक्षकः—तक्षक सर्प; सप्तमे—सातवें; अहनि—दिन; दङ्क्ष्यति—काटेगा; स्म—निश्चय ही; कुल-अङ्गारम्—वंश के दुष्ट को; चोदितः—करके; मे—मेरे; तत-गुहम्—पिता के प्रति शत्रुता।

उस ब्राह्मण-पुत्र ने राजा को इस प्रकार शाप दिया : आज से सातवें दिन अपने वंश के इस सर्वाधिक नीच (महाराज परीक्षित) को तक्षक सर्प डस लेगा, क्योंकि इसने मेरे पिता को अपमानित करके शिष्टाचार के नियमों को तोड़ा है।

तात्पर्य : इस प्रकार ब्राह्मण शक्ति का दुरुपयोग करना आरम्भ हो गया और धीरे-धीरे कलियुग में सारे ब्राह्मण, अपने ब्रह्मतेज तथा संस्कृति, दोनों से विहीन हो गये। ब्राह्मण बालक ने महाराज परीक्षित को कुलाङ्गार अर्थात् वंश का निकृष्ट व्यक्ति समझा, लेकिन वास्तव में ब्राह्मण बालक ही स्वयं ऐसा था, क्योंकि उसी के कारण ब्राह्मण जाति उसी तरह तेजरहित हो गई, जिस तरह विषदंत तोड़ा गया सर्प। जब तक साँप के विषदंत होते हैं, तब तक वह भयावह होता है, अन्यथा वह सिर्फ बालकों के लिए ही भयावना होता है। कलि ने सर्वप्रथम ब्राह्मण बालक को और धीरे-धीरे अन्य जातियों को जीत लिया। इस प्रकार इस युग में समाज की सारी वैज्ञानिक व्यवस्था ने दूषित जाति प्रथा का रूप धारण कर लिया, जो ऐसी ही दूसरी जाति के लोगों द्वारा उन्मूलन की जा रही है, जो कलियुग के वश में है। मनुष्य को चाहिए कि वह दूषण के मूल कारण को देखे और इस व्यवस्था के वैज्ञानिक महत्त्व को जाने बिना उसकी अवमानना करने का प्रयास न करे।

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् ।

पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभ्येत्य—प्रवेश करके; आश्रमम्—आश्रम में; बालः—बालक; गले सर्प—गले में साँप; कलेवरम्—शरीर; पितरम्—पिता को; वीक्ष्य—देखकर; दुःख-आर्तः—दुखित अवस्था में; मुक्त-कण्ठः—जोर से; रुरोद—चिल्लाया; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

तत्पश्चात् जब वह बालक आश्रम को लौट आया, तो उसने अपने पिता के गले में सर्प देखा और उद्विग्नता के कारण वह जोर से चिल्ला पड़ा।

तात्पर्य : वह बालक प्रसन्न तो नहीं हुआ था, क्योंकि उसने बहुत बड़ी भूल की थी और वह रोकर मन को हल्का करना चाह रहा था। अतएव आश्रम में प्रवेश करके जब उसने अपने पिता की दशा देखी तो वह जोर से चिल्लाया, जिससे उसे राहत मिल सके। लेकिन बहुत देर हो चुकी थी। पिता ने पूरी घटना पर खेद प्रकट किया।

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् ।

उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांसे मृतोरगम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; आङ्गिरसः—अंगिरा वंश में उत्पन्न ऋषि; ब्रह्मन्—हे शौनक; श्रुत्वा—सुनकर; सुत—अपने पुत्र का; विलापनम्—दुख में रोदन; उन्मील्य—खोलकर; शनकैः—धीरे-धीरे; नेत्रे—आँखों से; दृष्ट्वा—देखकर; च—भी; अंसे—कंधे पर; मृत—मरा हुआ; उरगम्—साँप को।

हे ब्राह्मणो, अंगिरा मुनि के वंश में उत्पन्न उस ऋषि ने अपने पुत्र का चिल्लाना सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं और अपनी गर्दन के चारों ओर मरा हुआ सर्प देखा।

विसृज्य तं च पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।

केन वा तेऽपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—एक ओर फेंककर; तम्—उसको; च—भी; पप्रच्छ—पूछा; वत्स—प्रिय पुत्र; कस्मात्—किसलिए; हि—निश्चय ही; रोदिषि—रो रहे हो; केन—किसके द्वारा; वा—अथवा; ते—वे; अपकृतम्—दुर्व्यवहार किया; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; सः—उस लड़के ने; न्यवेदयत्—सब कुछ बता दिया।

उन्होंने मरा हुआ सर्प एक ओर फेंक दिया और अपने पुत्र से पूछा कि वह क्यों रो रहा है? क्या किसी ने उसे चोट पहुँचाई है? यह सुनकर बालक ने जो कुछ घटना घटी थी, उसे कह सुनाया।

तात्पर्य : पिता ने गले में पड़े हुए सर्प को अधिक गम्भीरता से नहीं लिया। उन्होंने उसे फेंक दिया। वास्तव में महाराज परीक्षित से कोई बहुत बड़ी भूल नहीं हुई थी, लेकिन मूर्ख पुत्र ने उसे गम्भीरता से लिया और कलि के वश में होने से उसने राजा को शाप दे दिया। इस तरह उसने एक सुखद इतिहास के अध्याय का अन्त कर दिया।

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।

अहो बतांहो महदद्य ते कृतमल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; शप्तम्—शापित; अतत्-अहम्—कभी भी तिरस्कृत नहीं; नर-इन्द्रम्—मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा को; सः—वह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ऋषि; न—नहीं; आत्म-जम्—अपने पुत्र को; अभ्यनन्दत्—बधाई दी; अहो—हाय; बत—दुखद; अंहः—पाप; महत्—बड़ा; अद्य—आज; ते—तुम्हारा; कृतम्—किया गया; अल्पीयसि—नगण्य, क्षुद्र; द्रोहे—अपराध; उरुः—बहुत बड़ा; दमः—दण्ड; धृतः—दिया गया।

पिता ने अपने पुत्र से सुना कि राजा को शाप दिया गया है, यद्यपि उसे इस तरह दण्डित नहीं किया जाना था, क्योंकि वह समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ था। ऋषि ने अपने पुत्र को शाबाशी नहीं दी,

अपितु उलटे वे यह कहकर पछताने लगे, हाय! मेरे पुत्र ने कितना बड़ा पाप-कर्म कर लिया।
उसने एक तुच्छ अपराध के लिए इतना भारी दण्ड दे दिया है।

तात्पर्य : राजा सारे मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि होता है और उसे उसके किसी भी कार्य के लिए निन्दित नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता। राजा ब्राह्मण के अपराधी बालक को फाँसी की सजा का आदेश दे सकता है, तब भी वह ब्राह्मण-हत्या का पापी नहीं बन सकता। यदि राजा कभी कुछ त्रुटि कर भी बैठे, तो भी उसकी अवमानना नहीं होनी चाहिए। कोई चिकित्सक गलत उपचार से किसी रोगी को मार सकता है, लेकिन ऐसे मारनेवालों को कभी मृत्युदंड नहीं दिया जाता। अतः महाराज परीक्षित जैसे उत्तम एवं पुण्यात्मा राजा के विषय में क्या कहा जाय। जीवन की वैदिक शैली में राजा को राजर्षि बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, यद्यपि वह राजा के रूप में शासन कर रहा होता है। केवल राजा द्वारा चलाये जा रहे उत्तम शासन में प्रजा शान्तिपूर्वक तथा निर्भय रह सकती है। राजर्षिगण अपने राज्य की व्यवस्था इतने सुचारु रूप से तथा पवित्रता से करते थे कि प्रजा उनका वैसा ही आदर करती थी, मानो वे भगवान् हों। यही वेदों का आदेश है। राजा को नरेन्द्र या मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। तो फिर महाराज परीक्षित जैसे राजा को किस तरह एक अनुभवहीन गर्व से फूला ब्राह्मण बालक अपमानित कर सकता था, भले ही उसे योग्य ब्राह्मण का तेज क्यों न प्राप्त हो चुका हो?

चूँकि शमीक ऋषि एक अनुभवी श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, अतएव उन्होंने अपने इस अधम पुत्र के कार्यों का समर्थन नहीं किया, अपितु अपने पुत्र के किये हुए पर वे पश्चात्ताप करने लगे। सामान्य नियम के अनुसार, राजा श्राप की सीमा से परे होता है, तो फिर महाराज परीक्षित जैसे उत्तम राजा के विषय में क्या कहा जाय। राजा का अपराध अत्यन्त नगण्य था और उसे मृत्यु दण्ड देना सचमुच ही शृंगी के लिए बहुत बड़ा पाप था। इसीलिए शमीक ऋषि को पूरी घटना पर पश्चात्ताप किया।

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्रबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता

विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—सचमुच; नृभिः—किसी मनुष्य द्वारा; नर-देवम्—मनुष्यरूपी देवता को; पर-आख्यम्—दिव्य; सम्मातुम्—समान बताना; अर्हसि—तेज से; अविपक्र—अनुभवहीन, अप्रौढ़; बुद्धे—बुद्धि; यत्—जिसका; तेजसा—तेज से; दुर्विषहेण—अलंघ्य; गुप्ताः—सुरक्षित; विन्दन्ति—भोग करता है; भद्राणि—सारी समृद्धि; अकुतः-भयाः—पूर्ण रूप से सुरक्षित, निर्भय; प्रजाः—जनता।

हे बालक, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है, अतएव तुम्हें ज्ञान नहीं है कि राजा मनुष्यों में सर्वोत्तम और भगवान् के तुल्य होता है। उसकी तुलना कभी भी सामान्य लोगों के साथ नहीं की जा सकती। उसके राज्य के नागरिक उसके दुर्दम तेज से सुरक्षित रहकर समृद्धिमय जीवन व्यतीत करते हैं।

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि

रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।

तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-

त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अलक्ष्यमाणे—समाप्त किये जाने से; नर-देव—राजा का सा; नाम्नि—नामधारी; रथ-अङ्ग-पाणौ—भगवान् का प्रतिनिधि; अयम्—यह; अङ्ग—हे बालक; लोकः—यह संसार; तदा हि—तुरन्त; चौर—चोर; प्रचुरः—अत्यधिक; विनङ्क्ष्यति—परास्त किया; अरक्ष्यमाणः—सुरक्षित न रहकर; अविवरूथ-वत्—मेमने की भाँति; क्षणात्—तुरन्त।

हे बालक, एकछत्र राजसत्ता द्वारा रथचक्र धारण करनेवाले भगवान् का प्रतिनिधित्व किया जाता है और जब राजसत्ता ही मिट जाती है, तो सारा संसार चोरों से भर जाता है, जो तितर-बितर मेमनों की भाँति असुरक्षित प्रजा को तुरन्त परास्त कर देते हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के अनुसार एकछत्र राजा परमेश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। राजा को भगवान् का प्रतिनिधि कहा जाता है, क्योंकि उसे जीवों की रक्षा करने के लिए दैवी-गुण अर्जित करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् ने अपने असली प्रतिनिधि महाराज युधिष्ठिर को प्रतिष्ठित कराने के लिए सुनियोजित किया था। यदि आदर्श राजा को, संस्कृति तथा भक्ति से, युद्ध-कौशल में प्रशिक्षित किया जाय, तो वह पूर्ण राजा बनता है। ऐसी व्यक्तिगत राजसत्ता तथाकथित प्रजातंत्र से श्रेष्ठ होती है, जिसमें कोई प्रशिक्षण तथा उत्तरदायित्व नहीं होता। आधुनिक प्रजातंत्र के चोर

तथा उचक्रे जनमत (वोटों) के गोलमाल द्वारा चुनाव लड़ते हैं और विजयी होने पर जनता का भक्षण करते हैं। एक प्रशिक्षित राजा हजारों व्यर्थ के धूर्त मंत्रियों से श्रेष्ठ होता है और यहाँ पर संकेत दिया गया है कि महाराज परीक्षित के से एकछत्र राज्य के उखड़ने से, जनता पर कलियुग के प्रहारों के लिए द्वार खुल जाता है। जनता कभी भी प्रजातंत्र के अति-विज्ञापित रूप में सुखी नहीं रहती। अगले श्लोकों में राजा-विहीन प्रशासन के परिणामों का वर्णन हुआ है।

तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस कारण से; अद्य—आज से; नः—हम पर; पापम्—पाप का फल; उपैति—चढ़ेगा; अनन्वयम्—विघ्न; यत्—
क्योंकि; नष्ट—नष्ट होने पर; नाथस्य—राजा का; वसोः—सम्पत्ति का; विलुम्पकात्—लूटा जाकर; परस्परम्—एक दूसरे से;
घ्नन्ति—मारेगा; शपन्ति—हानि पहुँचायेगा; वृञ्जते—चुरायेगा; पशून्—पशुओं को; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अर्थान्—धन को; पुरु—
अत्यधिक; दस्यवः—चोर; जनाः—लोगों का समूह।

राजा की शासन-प्रणाली के समाप्त होने तथा धूर्तों एवं चोरों द्वारा लोगों की सम्पत्ति लुटने के कारण बड़े-बड़े सामाजिक विघ्न आयेंगे; लोग हताहत किये जायेंगे; पशु तथा स्त्रियाँ चुराई जायेंगी और इन सारे पापों के उत्तरदायी होंगे हम सब।

तात्पर्य : इस श्लोक में नः(हम) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजतंत्रीय शासन का अन्त करने के लिए ब्राह्मणों को एक समुदाय के रूप में जिम्मेदार बताकर मुनि ठीक ही कर रहे हैं और इस प्रकार जो तथाकथित प्रजातंत्रियों को अवसर दिया जा रहा है, जो सामान्यतया राज्य की जनता की सम्पत्ति के लुटेरे होते हैं। ये तथाकथित प्रजातंत्री लोग जनता की सम्पन्नता का उत्तरदायित्व लिए बिना प्रशासनिक तंत्र को हथिया लेते हैं। सारे व्यक्ति निजी तृप्ति के लिए पद हथिया लेते हैं और इस तरह एक राजा के स्थान पर, जनता से कर वसूलने कई राजा बन जाते हैं। यहाँ यह भविष्यवाणी की गई है कि अच्छी राजकीय सरकार के न होने से, प्रत्येक व्यक्ति धन, पशु, स्त्रियों इत्यादि को लूट कर अन्यो के लिए विघ्न खड़े करता रहेगा।

तदार्यधर्मः प्रविलीयते नृणां
 वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
 ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
 शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; आर्य—प्रगतिशील सभ्यता; धर्मः—कार्य; प्रविलीयते—समाप्त हो जाती है; नृणाम्—मनुष्यों की; वर्ण—जाति; आश्रम—समाज की व्यवस्था; आचार-युतः—शिष्टाचार से युक्त; त्रयी-मयः—वैदिक आदेश के रूप में; ततः—तत्पश्चात्; अर्थ—आर्थिक विकास; काम-अभिनिवेशित—इन्द्रिय-तृप्ति में पूरी तरह लिप्त; आत्मनाम्—मनुष्यों का; शुनाम्—कुत्तों की तरह; कपीनाम्—बन्दरों की तरह; इव—सदृश; वर्ण-सङ्करः—अवांछित प्रजा।

उस समय सामान्य लोग जाति (वर्ण) तथा समाज-व्यवस्था (आश्रम) के गुणात्मक कार्यों के रूप में प्रगतिशील सभ्यता के मार्ग से तथा वैदिक आदेशों से धीरे-धीरे गिर जायेंगे। इस प्रकार वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त आर्थिक विकास के प्रति अधिक आकृष्ट होंगे जिसके फलस्वरूप कुत्तों तथा बन्दरों के स्तर की अवांछित जनसंख्या को बढ़ावा मिलेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर भविष्यवाणी की गई है कि राजतन्त्र के न रहने पर सामान्य लोगों की कुत्तों तथा बन्दरों की तरह अवांछित आबादी हो जायेगी। जिस तरह बन्दर अत्यधिक कामुक और कुत्ते संभोग करने में निर्लज्ज होते हैं, उसी प्रकार अवैध सम्बन्धों से उत्पन्न हुए सामान्य लोग वैदिक सदाचार तथा वर्णाश्रम धर्म से दूर भटक जायेंगे।

वैदिक जीवन-शैली आर्यों की सभ्यता का प्रगतिशील अभियान है। आर्यगण वैदिक सभ्यता में प्रगतिशील होते हैं। वैदिक सभ्यता का गन्तव्य भगवान् के धाम को वापस जाना है, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न जरा और न रोग। वेद हर एक को भौतिक जगत के अंधेरे से दूर रहने, और भौतिक आकाश से अति दूर आध्यात्मिक जगत के प्रकाश की ओर बढ़ने का आदेश देते हैं। गुण के आधार पर वर्णों की प्रथा तथा आश्रमों का वैज्ञानिक विधि से आयोजन भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि रूप महर्षियों द्वारा किया गया है। जीवन की पूर्ण शैली, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों वस्तुओं के विषय में सभी प्रकार का उपदेश देती है। वैदिक जीवन-शैली किसी भी मनुष्य को बन्दरों तथा कुत्तों की तरह रहने की अनुमति नहीं देती। इन्द्रियतृप्ति तथा आर्थिक विकास की अधम सभ्यता, ईश्वरविहीन या राजा से रहित जनता के द्वारा, जनता के लिए कहे जाने वाले जनतंत्र का उप-उत्पाद है। अतएव लोगों को अपने ही द्वारा चुने गये अधम प्रशासन के लिए चूँ-चपड़ नहीं करनी चाहिए।

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राट् बृहच्छ्रवाः ।
 साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
 क्षुत्तृश्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

धर्म-पालः—धर्म का रक्षक; नर-पतिः—राजा; सः—वह; तु—लेकिन; सम्राट्—सम्राट; बृहत्—अत्यधिक; श्रवाः—प्रसिद्ध; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; महा-भागवतः—उच्च-कोटि का भगवद्भक्त; राज-ऋषिः—राजाओं में साधु; हय-मेधयाट्—अश्वमेध यज्ञ करनेवाला; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; श्रम-युतः—थका-हारा; दीनः—विपत्ति का मारा; न—कभी नहीं; एव—इस प्रकार; अस्मत्—हमारे द्वारा; शापम्—शाप; अर्हति—के योग्य है।

सम्राट् परीक्षित एक पवित्र राजा हैं। वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उच्चकोटि के भगवद्भक्त हैं।

वे राजाओं में सन्त (राजर्षि) हैं और उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये हैं। जब ऐसा राजा, भूख तथा प्यास का मारा, थका-हारा होता है, तो वह किसी भी तरह से शाप दिये जाने के योग्य नहीं होता।

तात्पर्य : राजपद-सम्बन्धी सामान्य आचार-संहिता बताने के बाद तथा यह जताने के बाद कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, अतएव कभी निन्दनीय नहीं है, मुनि शमीक राजा परीक्षित के विषय में विशेष रूप से कुछ कहना चाह रहे थे। महाराज परीक्षित के विशिष्ट गुणों को यहाँ पर संक्षेप में दिया गया है। यदि राजा परीक्षित की गणना केवल राजा के ही रूप में की जाय, तो वे अत्यन्त विख्यात शासक थे, जिन्होंने राजा के धार्मिक नियमों के अनुसार शासन चलाया। शास्त्रों में समस्त वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्य बताये गये हैं। *भगवद्गीता* (१८.४३) में क्षत्रिय के जिन गुणों का उल्लेख है, वे सारे के सारे सम्राट् परीक्षित में विद्यमान थे। वे भगवान् के महान् भक्त भी थे और स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति भी। ऐसे राजा को शाप देना कदापि उचित नहीं है, जब वह भूख और प्यास से थका-माँदा हो। इस तरह शमीक ऋषि ने सब तरह से स्वीकार किया कि महाराज परीक्षित को अत्यन्त अन्यायपूर्वक शाप दिया गया। यद्यपि सारे ब्राह्मण इस घटना से दूर थे, फिर भी उस ब्राह्मण बालक के बचकाना कार्य ने सारे विश्व की स्थिति बदल दी थी। इस प्रकार ब्राह्मण ऋषि शमीक ने संसार की उत्तम व्यवस्था के अधःपतन का सारा उत्तरदायित्व ग्रहण किया।

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्रबुद्धिना ।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अपापेषु—समस्त पापों से रहित व्यक्ति को; स्व-भृत्येषु—अधीन व्यक्ति को, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए; बालेन—बालक द्वारा; अपक्र—अप्रौढ़; बुद्धिना—बुद्धि से; पापम्—पाप-पूर्ण कर्म; कृतम्—किया गया; तत् भगवान्—अतएव भगवान्; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; क्षन्तुम्—क्षमा के लिए; अर्हति—योग्य हैं ।

तब ऋषि ने सर्वव्यापी भगवान् से अपने अप्रौढ़ तथा बुद्धिहीन पुत्र को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की, जिसने ऐसे व्यक्ति को शाप देने का महान् पाप किया था, जो समस्त पापों से मुक्त था और पराश्रित एवं सभी प्रकार से रक्षा किये जाने के योग्य था ।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने पवित्र या पापपूर्ण कार्य के लिए जिम्मेदार होता है । ऋषि शमीक को यह पहले से दिख गया कि उसके पुत्र ने महाराज परीक्षित को शाप देकर महान् पाप किया है, क्योंकि वे एक पवित्र शासक थे और महाभागवत होने के कारण समस्त पापों से मुक्त थे, अतएव वे ब्राह्मणों द्वारा रक्षणीय थे । जब भगवद्भक्त के प्रति अपराध किया जाता है, तो उसके फलों से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होता है । सामाजिक व्यवस्था के प्रधान पद पर होने के कारण, ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे अपने आश्रितों को सुरक्षा प्रदान करें, न कि शाप दें । ऐसे अवसर आये हैं, जब ब्राह्मण ने अपने अधीन क्षत्रिय या वैश्य को उग्र शाप दिया है, किन्तु महाराज परीक्षित के साथ कोई ऐसी बात न थी, जैसाकि कहा जा चुका है । मूर्ख बालक ने ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, निरे गर्व के कारण ऐसा किया था, अतएव वह ईश्वरी नियम द्वारा दण्ड का भागी था । भगवान् ऐसे व्यक्ति को कभी क्षमा नहीं करते, जो उनके शुद्ध भक्त की अवमानना करता है । अतएव राजा को शाप देकर, मूर्ख श्रृंगी ने न केवल पाप किया था, अपितु सबसे बड़ा अपराध किया था । अतएव ऋषि देख सके कि केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही उनके पुत्र को इस पाप से बचा सकते हैं । अतएव उन्होंने क्षमा याचना के लिए सीधे भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि भगवान् ही ऐसी बात को मिटा सकते हैं, जिसको बदलना असम्भव होता है । ऋषि ने उस मूर्ख बालक के नाम पर क्षमायाचना की, जिसमें तनिक भी बुद्धि का विकास नहीं हुआ था ।

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि ऐसी भगवान् की इच्छा थी कि महाराज परीक्षित उस विषम परिस्थिति में पड़ें, जिससे इस जगत से उनका उद्धार हो सके, तो फिर क्यों एक ब्राह्मण बालक

को इस अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया ? इसका उत्तर यह है कि यह अपराध एक बालक से ही हुआ था, अतएव उसे आसानी से क्षमा किया जा सकता था। इस तरह पिता की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। लेकिन यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि सारी ब्राह्मण जाति को सांसारिक मामलों में कलि को प्रवेश देने के लिए क्यों उत्तरदायी ठहराया गया, तो इसका उत्तर *वराह पुराण* में मिलेगा। इसके अनुसार, जो असुर भगवान् के शत्रु थे, किन्तु जो भगवान् द्वारा मारे नहीं गये थे, उन्हें कलियुग का लाभ उठाने के लिए ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने की अनुमति दी गई। परम दयालु भगवान् ने उन सबों को पवित्र ब्राह्मणों के परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया, जिससे वे मोक्ष-लाभ कर सकें। लेकिन असुरों ने, इस अवसर का लाभ न उठाकर, ब्राह्मण होने के गर्व से फूलकर, ब्राह्मण संस्कृति का दुरुपयोग किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण शमीक ऋषि का पुत्र है। इसके द्वारा ब्राह्मणों के सारे मूर्ख पुत्रों को आगाह किया जाता है कि वे शृंगी की तरह मूर्ख न बनें और उन आसुरी गुणों से सदैव बचते रहें, जो उनमें पूर्व जन्म में विद्यमान थे। निस्सन्देह, भगवान् ने इस मूर्ख बालक को क्षमा कर दिया, लेकिन अन्य लोग जिनके पिता शमीक ऋषि जैसे नहीं हैं, वे महान् कष्ट में पड़ते रहेंगे, यदि वे ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से प्राप्त होनेवाले लाभों का दुरुपयोग करते हैं।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।

नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तिरः-कृताः—अपमानित होकर; विप्रलब्धाः—ठगा जाकर; शप्ताः—शापित होकर; क्षिप्ताः—उपेक्षा के कारण विचलित; हताः—अथवा मारे जाने पर; अपि—भी; न—कभी नहीं; अस्य—इन कृत्यों के लिए; तत्—उनको; प्रतिकुर्वन्ति—प्रतीकार होते हैं; तत्—भगवान् को; भक्ताः—भक्तगण; प्रभवः—शक्तिमान; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही।

भगवान् के भक्त इतने सहिष्णु होते हैं कि अपमानित होने, ठगे जाने, शापित होने, विचलित किये जाने, उपेक्षित होने अथवा जान से मारे जाने पर भी कभी बदला लेने का विचार नहीं करते।

तात्पर्य : ऋषि शमीक यह भी जानते थे कि भगवान् उस व्यक्ति को क्षमा नहीं करते जो भक्त के चरणों पर अपराध करता है। भगवान् इतना ही आदेश दे सकते हैं कि भक्त की शरण ग्रहण करो। उन्होंने मन में सोचा कि यदि महाराज परीक्षित बदले में शाप दे दें, तो बालक को बचाया जा सकता

है। लेकिन वे यह भी जानते थे कि शुद्ध भक्त सांसारिक लाभों या हानियों के प्रति लापरवाह होता है। अतएव भक्तगण कभी भी निजी अपयश, शाप या उपेक्षा इत्यादि का बदला नहीं लेते। जहाँ तक ऐसी बातों का सम्बन्ध है, भक्तगण निजी मामलों में उनकी परवाह नहीं करते। किन्तु यदि ऐसी चीजें भगवान् तथा भगवद्भक्तों के विरुद्ध की जाती हैं, तो भक्तगण बहुत कठोर कार्यवाही करते हैं। चूँकि यह निजी मामला था, अतएव शमीक ऋषि को पता था कि राजा इसका बदला नहीं लेंगे। अतएव अप्रौढ़ बालक के लिए भगवान् से याचना करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प न था।

ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही अपने अधीनों को शाप देने या आशीर्वाद देने में सक्षम होते हैं; भगवद्भक्त, चाहे वह ब्राह्मण न भी हो, तो भी ब्राह्मण से अधिक शक्तिशाली होता है। लेकिन शक्तिशाली भक्त कभी अपने लाभ के लिए शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता। भक्त की जितनी भी शक्ति होती है, वह भगवान् तथा उसके भक्तों की सेवा में ही लगती है।

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।

स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; पुत्र—पुत्र; कृत—किया गया; अघेन—पाप से; सः—वे (मुनि); अनुतप्तः—पश्चात्ताप करते हुए; महा-मुनिः—ऋषि; स्वयम्—स्वयं; विप्रकृतः—इस तरह अपमानित होते हुए; राज्ञा—राजा द्वारा; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अघम्—पाप; तत्—वह; अचिन्तयत्—सोचा।

इस प्रकार मुनि ने अपने पुत्र द्वारा किये गये पाप के लिए पश्चात्ताप किया। उसने राजा द्वारा किये गये अपमान को गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया।

तात्पर्य : अब सारी घटना स्पष्ट हो गई है। महाराज परीक्षित द्वारा मुनि के गले में मृत सर्प लपेटना कोई गम्भीर अपराध न था, किन्तु शृंगी द्वारा राजा को शापित किया जाना गम्भीर अपराध था। यह गम्भीर अपराध एक मूर्ख बालक द्वारा ही हुआ था, अतएव वह परमेश्वर द्वारा क्षम्य था, यद्यपि पाप के फल से मुक्त होना सम्भव न था। महाराज परीक्षित ने भी मूर्ख ब्राह्मण द्वारा दिये गये शाप की ओर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने इस विषम स्थिति का लाभ उठाया और भगवान् की महद् इच्छा से, श्रील शुकदेव गोस्वामी की कृपा के माध्यम से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की। वास्तव में यह भगवदिच्छा थी और इस इच्छापूर्ति में महाराज परीक्षित, ऋषि शमीक तथा उनका पुत्र शृंगी ये तीनों

निमित्त मात्र थे। अतएव इनमें से किसी को कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि हर काम परम पुरुष के सम्बन्ध में किया गया था।

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।

न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रायशः—सामान्यतया; साधवः—सन्त गण; लोके—इस संसार में; परैः—अन्यों द्वारा; द्वन्द्वेषु—द्वैत में; योजिताः—लगाये जाकर; न—कभी नहीं; व्यथन्ति—पीड़ित होते हैं; न—न तो; हृष्यन्ति—हर्ष मानते हैं; यतः—क्योंकि; आत्मा—स्वयं; अगुण-आश्रयः—दिव्य।

सामान्यतया अध्यात्मवादी अन्यों द्वारा संसार के द्वन्द्वों में लगाये जाने पर भी व्यथित नहीं होते। न ही वे (सांसारिक वस्तुओं में) आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे अध्यात्म में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादी-जन ज्ञानी, योगी तथा भगवद्भक्त होते हैं। ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्म में तदाकार होने की सिद्धि प्राप्त करना होता है, योगी सर्वव्यापी परमात्मा की अनुभूति करना चाहते हैं और भक्तगण भगवान् के व्यक्तित्व की दिव्य प्रेममयी सेवा में लगे रहते हैं। चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् एक ही दिव्यता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, अतएव ये सारे अध्यात्मवादी प्रकृति के तीनों गुणों से परे होते हैं। भौतिक सुख-दुख तीनों गुणों के प्रतिफल हैं, अतएव ऐसे सुखों-दुखों के कारणों से अध्यात्मवादियों को कोई सरोकार नहीं रहता। राजा भक्त थे और ऋषि योगी थे। अतएव दोनों ही परमात्मा की इच्छा से उत्पन्न हुई इस दुर्घटना से अलिप्त थे। खेलने की उम्र वाला बालक भगवान् की इच्छापूर्ति में निमित्त मात्र था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।